अंक : १०४

अक्टूबर -दिसंबर २००८

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

सागर-सीपी

नंद किशोर नौटियाल

आमने-सामने

कृष्ण सुकुमार

१५ रुपये

अक्तूबर-दिसंबर २००८
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

क्रम

कहानियां

|| ७ || माई बाड़ा / **सुधीर अग्निहोत्री**
|| १२ || मृग-मरीचिका / **संतोष श्रीवास्तव**
|| १७ || क़स्बे में क़हर के दिन / **डॉ. विद्याभूषण**
|| २४ || बंटवारा / **कृष्ण सुकुमार**

लघुकथाएं

|| २३ || टूटते सपनों का दुख / **नरेंद्र कौर छाबड़ा**
|| २८ || मतदाता / **डॉ. सुरेंद्र गुप्त**
|| ४० || आदमीपन-१, आदमीपन-२ / **आलोक कुमार सतपुते**
|| ४२ || मैं जानती हूं तुम्हारा यथार्थ ! / **डॉ. पूरन सिंह**
|| ४७ || पत्थर की आंख / **डॉ. के. बी. श्रीवास्तव**
|| ५० || चंद्रग्रहण / **डॉ. सुरेंद्र गुप्त**
|| ५१ || चाल / **नरेंद्र कौर छाबड़ा**
|| ५२ || बेबसी / **राजेंद्र मोहन त्रिवेदी 'बंधु'**

कविताएं / ग़ज़लें / गीत

|| १६ || एक चादर मैली-सी / **रमेश यादव**
|| ४८ || गर्दिश के दिन / **रमेश यादव**
|| ४८ || पानी में बादल-सा रखकर... / **आनंद शर्मा**
|| ४९ || कविताएं / **सुशांत सुप्रिय**
|| ५० || द्रो ग़ज़लें / **सुरेंद्र चतुर्वेदी**

स्तंभ

|| २ || "कुछ कही, कुछ अनकही"
|| ४ || लेटर बॉक्स
|| २९ || "आमने-सामने" / **कृष्ण सुकुमार**
|| ३७ || "सागर-सीपी" / **नंदकिशोर नौटियाल**
|| ४१ || "बाइस्कोप" (सविता बजाज) / **रजिंदर सिंह बेदी**
|| ४२ || पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण चित्र : नमित सक्सेना
(ब्रुकलिन ब्रिज़, न्यूयॉर्क, अमरीका)

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
जय प्रकाश त्रिपाठी
अश्विनी कुमार मिश्र
हम्माद अहमद ख़ान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

●सदस्यता शुल्क●
आजीवन : ५०० रु., **त्रैवार्षिक** : १२५ रु.,
वार्षिक : ५० रु.,
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा केवल "**कथाबिंब**" के नाम ही भेजें.

●रचनाएं व शुल्क भेजने का पता●
ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८.
फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

●"कथाबिंब" वेबसाइट पर उपलब्ध ●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com
(कृपया रचनाएं भेजने के लिए ई-मेल का प्रयोग न करें.)

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक :
सुभाष गिरी
फोन : ९३२४०४७३४०

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

कुछ कही, कुछ अनकही

एक बार मैं आपसे फिर मुखातिब हूं. पिछली तिमाही में यात्राओं का सिलसिला बरकरार रहा. पहले अक्तूबर–नवंबर में इलाहाबाद–फतेहगढ़ की यात्रा फिर तुरंत ही नवंबर–दिसंबर में विदेश प्रवास – न्यूयॉर्क, वाशिंगटन, शिकागो. साल के अंत में ही वापस लौटना हुआ. आज के युग की या कहिए इक्कीसवीं सदी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि देश–विदेश में आप कहीं भी हों पल भर में आप फ़ोन और ई–मेल के द्वारा किसी भी व्यक्ति से संपर्क कर सकते हैं, बस यही शर्त है कि उस आदमी के पास भी वह सुविधा हो !

न्यूयॉर्क में हम लोग डब्लू. टी. सी. के एकदम क़रीब, मैनहट्टन के दक्षिणी मुहाने पर, लिबर्टी कोर्ट में ठहरे थे. वहां से वाल स्ट्रीट भी बहुत दूर नहीं थी. शुरू के दिनों में ठंड अधिक नहीं थी. फिर सर्दी बढ़ती गयी. धीरे–धीरे ज़ीरो डिग्री में रहने का अभ्यास हो गया. न्यूयॉर्क ही नहीं सारे अमरीका का मौसम पल–छिन बदलता रहता है. घर के बाहर निकलने से पहले इंटरनेट पर मौसम की जानकारी कर लेना बहुत ज़रूरी होता था. रोज़ हम दोनों हडसन वाटर फ्रंट पर टहलने निकलते थे. दक्षिण में लिबर्टी की मूर्ति दिखती. यह वही जगह है जहां थोड़े दिन पहले इमरजेंसी में १५५ यात्रियों वाला हवाई ज़हाज उतरा था और सभी यात्री सुरक्षित बचा लिये गये. २३ नवंबर को न्यूयॉर्क के भारतीय विद्याभवन के एक कार्यक्रम में भाग लेने का अवसर मिला. कार्यक्रम में श्रीमती पुष्पा भारती ने श्रीयुत हरिवंश राय बच्चन और डॉ. धर्मवीर भारती जी के जीवन के कई अनोखे पहलुओं के बारे में बताया तथा दोनों कवि श्रेष्ठ की कविताओं का पाठ किया. मेरे लिए एक व्यक्तिगत उपलब्धि की बात यह रही कि दिसंबर के दूसरे सप्ताह में न्यूयॉर्क की आई–टीवी नाम की एक हिंदी चैनल ने आधे घंटे का कार्यक्रम प्रसारित किया. इसमें साक्षात्कार के साथ ताज़ा कहानी "चांद शास्त्री" का पाठ भी शामिल था. "शब्द–स्टार" नामक इस कार्यक्रम में मैंने "कथाबिंब" की वेबसाइट *"कथाबिंब.कॉम"* के प्रारंभ होने की घोषणा की. यह वेबसाइट निशुल्क है. रिलीज़ होने के एक सप्ताह के भीतर नया अंक इंटरनेट पर उपलब्ध होगा.

"कमलेश्वर–स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार २००८" के लिए वर्ष २००८ में "कथाबिंब" में प्रकाशित कहानियों पर पाठकों के अभिमत आमंत्रित हैं. अभिमत–पत्र अंतिम पृष्ठ पर छपा है. किसी कारणवश आपके पास कोई अमुक अंक नहीं है तो कृपया हमें तुरंत लिखें. इस आयोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि अधिक से अधिक संख्या में पाठक अपने अभिमत हमें भेजें. "कथाबिंब" एकमात्र पत्रिका है जो इस तरह का लोकतांत्रिक आयोजन करती है. पाठकों के सुझाव व अभिमत हमारी पूंजी व संबल हैं.

लगता है यह वर्ष परिचितों और मित्रों के हमसे बिछुड़ने का है. "नवनीत" के भूतपूर्व संपादक श्रीयुत नारायण दत्त जी अब हमारे बीच नहीं हैं. थोड़े वर्ष पहले उन्होंने मुंबई छोड़ दिया था और बैंगलौर रहने लगे थे. मृदुभाषी, एकदम सीधे–सरल, मोती जैसी हस्तलिपि. बाल पेन के युग में भी दावात में होल्डर डुबो–डुबोकर सुंदर–सुंदर अक्षर बनाते थे. मैं ताड़देव स्थित नवनीत के कार्यालय अक्सर जाता था. संपादन के बहुत से गुर मैंने उन्हीं से सीखे. हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि !

मुबंई के २६ नवंबर के आतंकवादी हमले ने एक उभरते साहित्यकार को हमसे छीन लिया. हिंदुस्तान पेट्रोलियम के राजभाषा अधिकारी राजीव सारस्वत ताज होटल में आतंकी हमले के दौरान शहीद हो गये. वे संसदीय राजभाषा समिति की बैठक में भाग लेने ताजमहल होटल गये हुए थे. चौथी मंज़िल पर उन्हीं के कमरे को समिति का कंट्रोल रूम बनाया गया था. सभी लोग देर रात या अगले दिन होटल खाली करने वाले थे. हमले के समय सभी रात के भोजन की तैयारी कर रहे थे. राजीव को क़रीब रात ३.३० बजे हाथ में कहीं से आकर एक गोली लगी. उन्होंने कमरा बंद कर लिया. घायल अवस्था में वे मोबाइल से सबके संपर्क में थे. लगभग चौबीस घंटे बाद उन्होंने पत्नी को बताया कि उन्हें असहनीय दर्द हो रहा है. फिर क्या हुआ मालूम नहीं पड़ा. एक ग्रेनेड ने उनके शरीर को कई हिस्सों में भंग कर दिया. यह ग्रेनेड आतंकियों ने फेंका था या जबावी कार्यवाही में ऐसा हुआ, यह स्पष्ट नहीं है. सब कुछ अंधेरे में है. लेकिन सच्चाई यह है कि राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा करते हुए राजीव सारस्वत काल के गाल में समा गये. राजीव मेरे बहुत अच्छे मित्र थे. उन्हें शत–शत नमन !

●

स्थानाभाव के कारण इस अंक में मात्र चार कहानियां जा पायी हैं. पहली कहानी *"माई बाड़ा"* में सुधीर अग्निहोत्री शोषित महिला विमला को नागा साधुओं द्वारा दीक्षा देने की पैरवी करते नजर आते हैं. लेकिन इसकी क्या गारंटी है कि दीक्षा उपरांत माई बाड़ा में विमला का शोषण नहीं होगा ! संतोष श्रीवास्तव *"मृग मरीचिका"* में आश्रम में रहने वाली एक वृद्धा की उहापोह को उजागर कर रही हैं. सब कुछ त्याग करने के बाद मन अभी भी मोहमाया में उलझा हुआ है. विद्याभूषण की कहानी *"क़स्बे में क़हर के दिन"* अपने में एक लघु उपन्यासिका है. क़स्बे में परिवर्तन एक आंधी की तरह आ रहा है. छोटे लोगों की क्या बिसात ? परिवार के परिवार टूट रहे हैं. पर कहीं कोई निष्पत्ति नहीं है. *"बंटवारा"* (कृष्ण सुकुमार) कहानी बोझ बन गये वृद्ध दादा जी की कहानी है. दो भाइयों के बीच समझौता होता है कि हर महीने दादा जी की ज़िम्मेदारी का पाला बदलता रहेगा.

●

मुंबई में २६ नवंबर को हुए आतंकी हमले की तुलना ९ सितंबर २००१ को अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हुए हवाई हमले से की जा रही. यह उचित भी है. क्योंकि उससे पहले अमरीका ने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि वहां की धरती पर ऐसा कुछ हो सकता है. किंतु उस हमले के बाद से सुरक्षा के जो कड़े क़दम अमरीका ने उठाये उस कारण से वहां आज तक ऐसा कोई दूसरा हमला नहीं हुआ. जबकि भारत में महीने-दो महीनों में, इस तरह का एक न एक हादसा होना आम बात हो गयी है. किंतु इस बार यह आतंकी हमला कुछ अलग था. आतंकी समुद्र के रास्ते से आये थे और युद्ध के पूरे साजो-सामान से लैस थे. महज़ दस आतंकियों ने ६० घंटे तक इतने बड़े देश की नौसेना और थलसेना के होश उड़ा दिये. इससे पूर्व के हमलों में मरने वाले महज आम आदमी ही हुआ करते थे, लेकिन इस बार ताज और ओबेराय, दो नामी होटलों को निशाना बनाया गया. उच्चवर्गीय और विदेशी लोगों को भी टारगेट किया गया. कोलाबा के नारीमन हॉउस जहां जियूस रहते हैं को भी नहीं बक्शा गया. मुंबई भी न्यूयार्क की तरह अपने देश की आर्थिक राजधानी है. पूरा हमला बहुत ही दक्षता और प्रोफेशनल तरीके से किया गया. संयोग से उन दिनों मैं वाशिंगटन में था. हिंदुस्तान की तरह ही इस बार अमरीकी मीडिया ने भी चौबिसों घंटे हादसे को कवर किया. इसका मुख्य कारण अमरीकी नागरिकों का होटलों में फंसा होना और कुछ अमरीकियों का मारे जाना था. अन्यथा विश्व में कुछ भी होता रहे, बिग ब्रदर अपनी नाक के नीचे के अलावा न कुछ देखता है और न ही कुछ सुनता है. मौजूदा समय की विश्व की बहुत-सी समस्याओं के पीछे अमरीका का ही हाथ है. वही इन जटिलताओं का प्रणेता है.

एक बार फिर भारतीय इलेक्ट्रॉनिक मीडिया स्पर्धा व वन-अप मैनशिप के चलते अपने दायित्व को सही ढंग से नहीं निबाह पाया. यहां तक की परोक्ष रूप में न्यूज़ चैनलों ने हमलावरों की मदद ही की. पाकिस्तान में बैठे आत्मघाती आतंकियों के कमांडर सैट-फोन द्वारा लगातार उनके संपर्क में थे और भारतीय टी. वी. कवरेज़ देख कर रियल-टाइम में, लगातार यथोचित निर्देश दे रहे थे.

मुंबई में हुए हमले को लगभग दो माह होने आये हैं. इस बीच ऐसे कोई ख़ास क़दम नहीं उठाये गये हैं कि अगले हमले की आशंका पूरी तरह समाप्त हो गयी हो. महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री व उपमंत्री को दीगर कारणों से हटाया गया. नये मुख्यमंत्री के चयन में भी खींचातानी हुई. हाई कमांड को गृहमंत्री शिवराज पाटिल को हटाने का कारण मिल गया और उनकी गद्दी भी छिन गयी. उनका स्थान मिला वित्त मंत्री श्री चिदंबरम जी को. वर्तमान में, देश की अर्थव्यवस्था पूरी तरह चरमरायी हुई है. सत्यम घोटाले के समक्ष हर्षद मेहता घोटाला छोटा पड़ गया है. इस सबका ज़िम्मेदार कौन है ? यह सब जाने दें. अचानक हमारी आंखें खुली हैं कि पाकिस्तान आतंकवाद का घर है. वहां आई एस आई द्वारा ट्रेनिंग सेंटरों में आतंकवादियों को प्रशिक्षित किया जा रहा है. पाकिस्तान इन केंद्रों को नेस्तनाबूद कर दे और मुंबई हमलों में लिप्त सरगनाओं को भारत के हवाले कर दे. अमरीका से दबाब डालने के लिए कहा जा रहा है. रोज़ नये-नये सबूत पेश किये जा रहे हैं. इससे कुछ दिनों पहले तक हम बात कर रहे थे देसी (होम ग्रोन) आतंकवादी केंद्रों और गढ़ों की. पाकिस्तान स्वयं आतंकवाद से जूझ रहा है. बोतल में से निकले जिन्न को दोबारा बोतल में बंद करना नमुमकिन है. श्रीलंका के तमिल उग्रवादियों या फिर नेपाल के माओवादियों को भारतभूमि से क्या मदद नहीं मिलती रही है ? हमको यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि पिछले अनेक सालों में हुए आतंकी हमलों के तार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं. अगर इस दिशा में कुछ ठोस करना है तो भारत सरकार को ही करना है. किसी के आगे गुहार लगाने की ज़रूरत नहीं है.

इसकी जड़ में देश के छोटे-छोटे गांवों और क़स्बों में, मदरसों और अन्य इस्लामिक केंद्रों में, दी जाने वाली इस्लामी शिक्षा है. बच्चों को घुट्टी के साथ इन केंद्रों में कुरान पढ़ाने के साथ, निरंतर यह बताया जाता है कि बुतपरस्त क़ाफिरों के धर्म की तुलना में इस्लाम कहीं बेहतर मज़हब है. यह खुलेआम बिना रोकटोक किया जा रहा है और इसमें सबसे आगे है, देवबंद का दारुल उलूम. हम जगह-जगह बंकर बना कर, सीसीटी कैमरे लगाकर, नाकाबंदी करके पूरे देश को मिलेटरी छावनी में नहीं बदल सकते. लेकिन सभी धर्मों – हिंदू, मुस्लिम, सिखों और इसाइयों के ऐसे स्कूलों पर, जहां धार्मिक शिक्षा दी जाती है पाबंदी लगाकर आतंकवाद पर बहुत कुछ नियंत्रण पा सकते हैं. कुछ तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक पार्टियां काफ़ी समय से मुसलमानों को केवल वोटबैंक समझकर इस्तेमाल करती आयी हैं. यदि एक मुसलमान मजलूम है तो उसकी जैसी स्थिति में तीन हिंदू भी हैं. वे सभी निर्दोष लोगों को मारने नहीं लगते ! अभी कुछ छुट-पुट घटनाएं अवश्य सामने आयी हैं. इसके पहले कि समस्या और विकराल और जटिल हो इस तरह की शिक्षा पर तुरंत प्रतिबंध लगा देना चाहिए.

●

जम्मू-कश्मीर में हाल ही में संपन्न चुनाव से कुछेक अच्छी बातें सामने आयी हैं. ख़राब मौसम की परवाह न करते हुए भी कई इलाकों में ६५-७० प्र. श. मतदान हुआ. न ही कहीं चुनाव के बहिष्कार का असर हुआ. यह संकेत है कि कश्मीर की आम जनता बरसों के उग्रवाद से आजिज आ चुकी है. दूसरा शुभ संकेत है कि राज्य की सरकार एक जुझारू युवा व्यक्ति के हाथ में है. ऐसी आशा है कि कश्मीर के लिए ऊमर अबदुल्ला ओबामा की तरह ही अमन की एक शहतीर के रूप में उभर कर आयें. आमीन!

अरविंद

लेटर बॉक्स

❊ 'कथाबिंब' का जुलाई-सितंबर ०८ अंक पढ़ा. नियमित स्तंभों को अपनी जगह रहने दें तब भी पत्रिका की कहानियां बेजोड़ होती हैं. 'कथाबिंब' ने 'हंस' की तरह न स्त्री विमर्श चलाया, न देह विमर्श, न ही दलित विमर्श चलाया, न अल्पसंख्यक विमर्श. बिना विमर्शों का डंका बजाये या झंडा उठाये एक अच्छी नदी की तरह यह पिछले लगभग ३० वर्षों से बहती रही है. इस अंक की सबसे बेहतरीन कहानी 'राग जीवन' (देवेंद्र सिंह) है जो वस्तुतः जीवनराग है. कहानी क्या है एक दार्शनिक कविता है. पति-पत्नी के बीच का संवाद एक सनातन और शाश्वत संवाद है, फिर भी एक समकालीन और आधुनिक संवाद है. कहानी अंत तक टूटती-बिखरती नहीं है. पुत्र वधू भी आदर्श और यथार्थ का संगम है. आदर्श इसलिए कि ऐसी होनी चाहिए और यथार्थ इसलिए कि ऐसी है. नूर मुहम्मद 'नूर' की कहानी 'कोढ़ फूटेगा' एक सर्व कवि कथा है और 'नूर' की आत्मकथा है. लेकिन यह राग जीवन से उन्नीस इसलिए है कि इसमें अतिशयोक्ति है. अतिशयोक्ति इस अर्थ में कि आज का कवि या लेखक इतना अव्यवहारिक और इतना फटीचर नहीं होता. गजेंद्र रावत की 'कस्तूरी' इस अमानवीय समय की मानवीय कहानी है. वल्लूर शिवप्रसाद की कहानी का अंत विद्रोही है पर इस कहानी की कमी यह है कि इसमें कीड़े शब्द की इतनी आवृत्ति हुई है कि अच्छा होता कि कथाकार कीड़े शब्द को ही सहस्र बार लिख देता. राजीव सिंह की 'हेलिकॉप्टर' नकली राजनीति की असली कहानी है. मल्लिका का ग्लैमर एक छोंक का काम करता है. लेकिन क्या जनता इतनी मूरख है या जनता को इस कदर मूरख बनाया जा सता है? इकसठ वर्षीय लोकतंत्र का यही कुल जमा है. शिवओम अंबर ने वाकई हिंदी ग़ज़ल का कमाल दिखाया है और डॉ. शंभु नाथ आचार्य का काल निर्धारण आचार्य शुक्ल के बूते की बात है. डॉ. तारिक असलम की लघुकथा में आज का सच है. ज्ञानदेव मुकेश की लघुकथा यह सिद्ध करती है कि व्यवस्था जनता के कफ़न की तैयारी ही करती है. रामकुमार आत्रेय की लघुकथा कलयुगीकरण है पौराणिक कथा का. सविता बजाज की पोटली मदारी की झोली की तरह है जिसमें अद्‌भुत चीज़ें भरी पड़ी हैं. आपके संपादकीय की चिंताएं वाजिब हैं और 'कथाबिंब' के काग़ज़ का तो क्या कहना.

✤ **हितेश व्यास,**

१, मारूति कॉलोनी, नयापुरा, कोटा (राज.) ३२४००१

❊ ताजा अंक (जुलाई-सितं. ०८) मिला. सब कुछ धीरे-धीरे पढ़ गयी. हर रचना अच्छी लगी - कविता, ग़ज़ल से लेकर कहानियां. वहीं संपादकीय भी खांटी और सटीक कह गया. मीडिया जहां ताज़ा समाचार सुनाता है, दिखाता है, वहीं उसे अंत तक सड़ा भी देता है. टीवी पर आज ऐसा कोई भी चैनल नहीं - जहां हम पुराने साहित्य और क्लासिक हिंदी फ़िल्में देख सकें. आंखें तरस गयी हैं पुराने गाने और पुरानी फ़िल्में देखे. एक ही पिक्चर दिखा-दिखाकर जाने कौन टी आर पी ठीक कर रहे हैं. अंत में 'नूर मुहम्मद नूर' की कहानी 'कोढ़ फूटेगा'. तकलीफ बयानी में भी हमें मजा आया. भोजपुरी भाषा की कुछ चुनिंदा बातें बहुत अंतराल के बाद पढ़ने को मिलीं. कहानी बहुत अच्छी है बधाई! ऊ हिप्पियां अऊर झोटईला कौन है?

✤ **माला वर्मा,**

हाजीनगर, २४ उत्तर परगना, (प.बं.) ७४३१३५

❊ जुलाई-सितंबर का अंक मिला. निःसंदेह 'कथाबिंब' ऐसी पत्रिका है, जो साहित्यिक पत्रकारिता के मर्म को जानती है.

नूर मुहम्मद 'नूर' कहानीकारों में कुछ अलग हटके कहानीकार हैं. उनकी कहानी 'कोढ़' एक सांस में पढ़ गया. 'कीड़े' शिवप्रसाद जी की कहानी में देश का किसान उपस्थित है. उत्तर भारत की कहानी चंद नारों में अपना स्वर मिला रही है, वहीं दक्षिण में आज भी अच्छी कहानियां लिखी जा रही हैं. अनुवाद प्रकाशन के लिए शुक्रिया.

सविता बजाज जी के अमृता प्रीतम पर संस्मरण काफी की तरह चुस्की लेकर पीने वाले लगे. अमृता जी को मैंने बड़े निकट से देखा! वो साहित्यजगत की चंद अद्‌भुत महिलाओं में थीं.

इमरोज के साथ उनकी दोस्ती मोहब्बत में जाने कितने अफ़सानों की प्लॉट है. २३ साल पहले अमृता जी ने मुझे बताया था, 'मैं साहिर की दीवानी थी. इमरोज के पीछे स्कूटर पर बैठकर, उसकी पीठ पर उंगली से साहिर का नाम लिखती रहती थी. इमरोज ने कभी कोई शिकायत नहीं की.'

भला आज मोहब्बत करनेवालों में इतनी बर्दाश्त करने की ताक़त है? ज़िस्मानी और आसमानी रिश्तों को बिरले ही निभाने की ताकत रखते हैं.

✤ **आनंद शर्मा,**

हकीम कन्हैयालाल मार्ग,

२०९ बिहारीपुर, बरेली (उ.प्र.) २४३००३

❊ 'कथाबिंब' का जुलाई-सितं. ०८ का अंक मिला. आपकी तथा श्रीमती मंजुश्री की वर्षों की निरपेक्ष साहित्य-सेवा ने मुझे सदैव प्रभावित किया है. कहा जाता है कि बीसवीं सदी से ही महागाथाओं और महाकाव्यों के दिन समाप्त हो गये हैं और लगता है कि शायद यह सच भी है क्योंकि महानायकों के दिन तो समाप्त हो ही गये हैं, अब महापुरुष भी कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं. किसी विचारक ने कहा है कि 'जब छोटे-छोटे लोगों के बड़े-बड़े साये पड़ने लगें तो समझना चाहिए कि सूर्यास्त क़रीब आ रहा है.' हम आज सचमुच ही बौनों के विराट काले साये तले ज़िंदा रहने के लिए अभिशप्त हो रहे हैं. ऐसे वक़्त में शायद शब्द, अक्षर, स्वर ही हमारे साथ रहेंगे या उन्हें जतन से रखना पड़ेगा. जैसे पुराने ज़माने में

भूसी के नीचे थोड़े अंगारे दबाकर रखे जाते थे ताकि ज़रूरत पड़ने पर फुंकनी से फूंककर फिर से आग सुलगाई जा सके. आपकी प्रतिबद्धता और सामाजिक सरोकार ही आपसे अनवरत यह अक्षर-संरक्षण का कार्य करवा रहा है.

'कथाबिंब' के इस अंक में 'कोढ़ फूटेगा' में नूर मुहम्मद 'नूर' ने बड़ी मार्मिकता से एक 'कवि' की पारिवारिक बदहाली की तस्वीर खींची है. निराला, मुक्तिबोध आदि लेखकों के संघर्ष-संत्रास को हम चाहे जितना प्रभामंडित कर लें लेकिन ज़मीनी सचाई यह है कि साहित्यकार ख़ुद यदि खाते-पीते घर का न हो तो सिर्फ़ गाली और शाप का ही पात्र बनेगा और सो भी अपनी पत्नी से! 'हेलिकॉप्टर' कहानी के नंदू की विवशता, बड़े सजीव ढंग से लेखक राजीव सिंह द्वारा चित्रित हुई है. उसकी त्रासदी को रेखांकित करने के लिए उसे 'मानसिक रोगी' न भी बताया जाता तो कहानी उतनी ही सशक्त होती. हर ग़रीब, लाचार के हाथ बलवानों के पत्थर तले दबे ही होते हैं और सिवाय अकेले में गाली देने के वह और कुछ कर भी क्या सकता है?

आपके सभी स्थायी स्तंभ हमेशा की तरह रोचक, उद्बोधक और पठनीय हैं.

✣ **डॉ. राजन नटराजन पिल्ले,**

'रामकुंज', रा.के.वैद्य रोड, दादर (प.), मुंबई-४०० ०२८

※ 'कथाबिंब' पत्रिका के मोहपाश में और अधिक बंधता जा रहा हूं. इसके हर नये अंक की प्रतीक्षा रहती है. सबसे पहले संपादकीय पढ़ता हूं. फिर लघुकथाएं तथा बाद में बड़ी कहानियां. कथाकारों के इंटरव्यूज़ में भी मेरी ख़ासी दिलचस्पी रहती है.

अप्रैल-जून ०८ अंक में छपी 'एक क़ुर्बानी यह भी' मुझे वर्ष २००८ की सर्वश्रेष्ठ कहानी लगी है. मैं डॉ. सेराज ख़ान 'बातिश' को इस कहानी की रचना के लिए अनेक धन्यवाद और बधाइयां देता हूं. उनकी यह कहानी पढ़कर आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के ये शब्द याद आ गये कि 'जिस साहित्य से समाज का हित न सधे, वह भला किस काम का?' सेराज जी ने अपनी कहानी में भारतीय समाज से जुड़ा एक संवेदनशील विषय इस ख़ूबसूरती से उठाया और पेश किया कि बहुत मज़ा आया पढ़कर. मुझे पूरा विश्वास है कि देश के अनेक विचारशील व्यक्तियों को उनके ये विचार सोचनीय लगे होंगे. सदियों पुरानी परंपराओं का त्याग भी किसी क़ुर्बानी से कम नहीं, इस कारण शीर्षक भी एकदम सुयोग्य है. जुलाई-सितं ०८ अंक में नूर मुहम्मद 'नूर' की कहानी 'कोढ़ फूटेगा' भी काफ़ी अच्छी लगी. हिंदी लेखकों और कवियों की अव्यक्त पीड़ा को उन्होंने अच्छी अभिव्यक्ति दी है.

✣ **डॉ. देवकी नंदन,**

२२०५, न्यू जय भारत सोसायटी,

सेक्टर-४, प्लॉट नं.५, द्वारका, नयी दिल्ली - ११००७५

※ 'कथाबिंब' का जुलाई-सितंबर ०८ अंक प्राप्त हुआ. संपादकीय स्पष्टता एवं निर्भीकतापूर्वक भ्रष्टाचार का कच्चा चिट्ठा खोलता है. राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति आपकी चिंता एवं बेचैनी आपके प्रति श्रद्धा पैदा करती है. संपादकीय एक तरफ जहां मीडिया व राजनीति की संवेदनहीनता को दर्शाता है वहीं धार्मिक सौहार्द की भावना व संविधान में आस्था पर बल देता है.

अंक की कहानियां प्रशंसनीय हैं. पहली ही कहानी 'कोढ़ फूटेगा' आंचलिकता का सुंदर उदाहरण है. ग़रीब व्यक्ति की पीड़ा की यथार्थ अभिव्यक्ति इस कहानी में हुई है. लेखकीय जीवन की बिडंबनाओं को गहरे से परखता कहानीकार है नूर मुहम्मद 'नूर'.

कहानी 'राग जीवन' जीवन के प्रति राग-विराग की स्थिति का विश्लेषण करती है. निसंदेह आज परिवार जहां संयुक्त से एकल होते जा रहे हैं वहीं एकल परिवार के सदस्यों में भी संदेह व एकाकीपन है. परंतु कहानी अंततः आदर्शों की स्थापना करती है जो जीवन के प्रति वितृष्णा नहीं अपितु जिजीविषा पैदा करती है. आज जब रिश्तों, नातों पर दिखावे की परत चढ़ चुकी है ऐसे में यह कहानी इस संक्रमणशील युग में भी जीवन जीने की इच्छा पैदा करने में सफल सिद्ध हुई है. 'हेलिकॉप्टर' कहानी आज की राजनीतिक नौटंकी का नाटक प्रस्तुत करती है कि किस प्रकार राजनेता भोली-भाली जनता को मूर्ख बनाकर अपने हितों की पूर्ति करते हैं. 'कस्तूरी' कहानी में माधव का संवाद जहां ग्रामीण व शहरी संस्कृति के अंतर को रेखांकित करता है वहीं मेट्रो ट्रेन में घटी घटना संवेदनशून्य होते इनसानी रिश्तों की टीस को व्यक्त करती है. तेलुगु कहानी 'कीड़े' भी प्रशंसनीय है.

✣ **कृष्ण कुमार भारतीय,**

विनायक भवन, अनाज मंडी कलायत,

कैथल, (हरियाणा) १३६११७

※ 'कथाबिंब' जुलाई-सितं. ०८ हस्तगत हुआ. आपका संपादकीय विशेष रूप से सराहनीय एवं पसंदीदा है.

'कोढ़ फूटेगा' (नूर मुहम्मद 'नूर') की कहानी हंसा-हंसा कर रुलाने वाली कहानी है. यह हक़ीक़त है कि दुनिया को जन्नत निशान बनाने की फ़िक्र में फ़नकार ख़ुद को और अपने परिवार को वायदों के सिवा और क्या देता है? और ज़माना? बक़ौल शाइर-

अपनी तफ़रीह का सामान समझने के सिवा,
ये ज़माना किसी फ़नकार को क्या देता है?

नूर मुहम्मद 'नूर' साहिब की कहानी आंचलिक भाषा में होने की वजह से कैफ़ियत में दो चंद लुत्फ़ देती है. इस बेहतरीन कहानी के चयन के लिए आप भी बधाई स्वीकारें! 'राग-जीवन' (श्री देवेंद्र सिंह) तन्हाई की अज़ीयत झेलते हुए सावित्री और मधुसूदन की ही दर्द भरी दास्तान नहीं है, बल्कि दुनिया में ऐसे करोड़ों बुज़ुर्ग हैं जो तन्हाई में यासो-उम्मीद की सलीब पर लटके हुए हैं. सावित्री और मधुसूदन तो सिर्फ सिंबल हैं. श्री देवेंद्र सिंह जी की कहानी कथ्य और शिल्प दोनों एतबार से सराहनीय है. समयाभाव के कारण दीगर कहानियां मैं न पढ़ सका. 'आमने-सामने' में डॉ.शिव ओम 'अंबर' जी की आत्मरचना एवं ग़ज़लें बेहद मुतअस्सिर

करती हैं. मुबारकबाद! डॉ शंभुनाथ आचार्य जी की ग़ज़ल 'आदमी इस हद तलक गिर जायेगा सोचा न था.' ख़ूब बहुत ख़ूब है. डॉ. साहब ने सहले मुम्तना में अच्छे और देरपा असरात वाले शेर कहे हैं. मुबारक! 'बाइस्कोप' (सविता बजाज) का सिलसिला अच्छा है, प्लीज़ आइंदा भी जारी रखिए. ग़ज़लें, दोहे, कविताएं, समीक्षाएं, लघुकथाएं भी पठनीय हैं. यानी जो ज़र्रा जिस जगह है, वहीं आफ़ताब है. आख़िर में यह कि पत्रिका बहुत दिनों बाद मिली यानी आपसे मुलाक़ात नहीं हुई. बराहे करम मुहब्बतों का सिलसिला क़ायम रखें,

मुहब्बत ज़िंदगी है / मुहब्बत रौशनी है/
मुहब्बत ही किये जा / मुहब्बत बंदगी है.

✤ डॉ. नसीम अख़्तर,
जे.४/५१, 'गुलशने-अबरार', हंस तले,
वाराणसी-२२१००१ (उ.प्र.)

※ 'कथाबिंब' जुलाई-सितंबर ०८ अंक मिला. डॉ. शंभुनाथ आचार्य हिंदी के उत्कट विद्वान हैं, सागर-सीपी में उन्हें पढ़ना सुखद है, किंतु ग़ज़लें पृष्ठ पर डॉ.शंभुनाथ जी की ग़ज़ल बहर से अशुद्ध प्रतीत होती है. सुरेंद्र वर्मा की ग़ज़ल यूं तो ठीक है किंतु ग़ज़ल के स्वभाविक प्रवाह से महरूम है.

डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम' पुराने लघुकथाकार हैं, लेकिन 'सच के विरुद्ध' प्रभावित नहीं करती, 'क्वॉन्टिटी' के साथ 'क्वॉलिटी' बनाये रखना भी ज़रूरी है. रामकुमार आत्रेय की लघुकथा अच्छी है.

गजेंद्र रावत की कहानी 'कस्तूरी' का कथ्य और शिल्प कहानी का ज़रूर है. लेकिन प्लॉट लघुकथा का है. प्रस्तुति ठीक ठाक है, लेकिन मेट्रो अभी भी मेट्रो शहरों के लिए प्रयुक्त होता है. दिल्ली, कोलकाता में मेट्रो ट्रेन ज़रूर हैं.

चंद्रसेन विराट के कुछ दोहे अच्छे हैं, जय चक्रवर्ती के दोहे सटीक हैं. 'आमने सामने' में शिवओम 'अंबर' की प्रस्तुति सुखद है.

आपका संपादकीय प्रखर है, आप 'कथाबिंब' के प्रवाह, स्तर एवं प्रस्तुति को सतत बनाये हुए हैं, यह बड़ी बात है. कहानियां कुल मिलाकर अच्छी हैं, समीक्षाएं बेबाक और पठनीय.

✤ मनोज अबोध,
सरस्वती मार्ग, बिजनौर (उ.प्र.)२४६७०१.

※ 'कथाबिंब' का अप्रैल-जून ०८ अंक यथासमय प्राप्त हुआ. अंक की अंतर्बाह्य शुचिता ने हृदय को आलोड़ित कर दिया. पत्र-पत्रिकाओं के संसार में कथाबिंब अपनी तन्वंगी काया में भी बौद्धिक एवं रसिक मन को गहरे तक स्पर्श करती है. आपकी संपादकीय दृष्टि अनुकरणीय है.

इस अंक की सभी कहानियां कथ्य, शिल्पीय संयोजन एवं प्रस्तुति के बांकपन की दृष्टि से मन को उत्प्रेरित करती हैं किंतु 'क्योंकि मैं एक स्त्री हूं' (डॉ. रंजना जायसवाल) कहानी कथा-रस की हृदयहारी चासनी की बदौलत पाठकीय मन पर अतीव गहरा प्रभाव छोड़ जाती है. डॉ.रंजना जी को इस निमित्त मेरी हार्दिक शुभकामनाएं. पति की लंपटता ने मां की ममता को जिस प्रकार से तार-तार किया है, उस दारुण नारी पीड़ा को शब्दों में पिरो कर डॉ. रंजना जी ने लौकिक प्रेम की कसक, चाहत को पारलौकिकता का अंबर प्रदान कर दिया है. अन्य स्तंभ भी रुचिकर हैं.

✤ सुरेश चंद्र शर्मा,
बी. डी. डी. बी. महिला महाविद्यालय,
भदैंया, सुलतानपुर (उ.प्र.) २२२३०२.

※ 'कथाबिंब' के सभी अंक बराबर मिल रहे हैं. एक अंक के मिलते ही अगले अंक की प्रतीक्षा रहती है. पत्रिका के सभी स्तंभ गंभीर अध्ययन योग्य सराहनीय हैं. किंतु कभी-कभी कुछ पत्र लेखक अति जोश, रोश एवं असंवेदनशीलता के कारण सही प्रतिक्रिया नहीं दे पाते. इससे स्वस्थ चिंतन का संतुलन बिगड़ जाता है और लेखकों, पाठकों आदि के मर्म पर बुरा प्रभाव पड़ता है. सेराज खान 'बातिश' की कहानी 'एक कुर्बानी यह भी' के संबंध में असीम कुमार 'आंसू' ने जो टिप्पणी की है वह पूरी तरह अपमानजनक व पीड़ादायक है.

बातिश साहब ने कुर्बानी के सामाजिक पहलू को भी बिल्कुल नजर अंदाज करके अतिसंवेदनशीलता से काम लिया है जबकि अति सदैव बुरी होती है. वास्तव में कुर्बानी वह जज़्बा पैदा करती है कि लोग समाज के लिए, देश के लिए, अपनी जान व माल कुर्बान करने के लिए तैयार हो जाते हैं. यदि यह जज़्बा ख़त्म हो जाये तो भला बताइए कि कौन अपने कलेजे के टुकड़ों को देश पर कुर्बान करने को तैय्यार होगा, कौन दैवीय आपदाओं के समय अपनी जान व मालो ज़र को दूसरों पर लुटाकर उनकी सहायता के लिए खड़ा होगा. दरअसल कुर्बानी में तीन हिस्से किये जाते हैं. एक हिस्सा कुर्बानी करनेवाले का, दूसरा उसके रिश्तेदारों का और तीसरा ग़रीबों, फ़क़ीरों, मोहताजों का होता है. जरा सोचिए जो मजबूर लोग साल में एक बार भी पेट भर खाना नहीं खा पाते हैं उन्हें कुर्बानी के दिनों में पेटभर स्वादिष्ट, पौष्टिक भोजन नसीब हो जाता है तो इसमें बुरा क्या है? कुर्बानी के लिए जानवरों की कम से कम आयु भी निर्धारित है. जैसे बकरा, दुबा आदि की आयु एक वर्ष से कम नहीं होना चाहिए. यानी कुर्बानी के जानवरों को लोग इतने समय तक बड़े प्यार से पालते-पोसते हैं. अब अगर कुर्बानी को छोड़ दिया जाये तो क्या बकरे को लोग किश्तों में भूखा नहीं मार डालेंगे. आख़िर उसे किस उद्देश्य के लिए पालेंगे? कम से कम कुर्बानी या जिबहा होने से पूर्व तक तो उसको अपना सामान्य जीवन जीने का अवसर मिल जाता है और मरने के बाद वह भी उस समाज के प्रति अपना दायित्व पूरा कर देता है जिसके लिए ही विधाता ने संभवतः उसे जन्म दिया है.

मेरा उद्देश्य किसी के मन को ठेस या पीड़ा पहुंचाना हरगिज़ नहीं है. फिर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते समय अनजाने में कोई भूल हो गयी हो, तो क्षमा करें.

✤ आले हसन खां,
एडवोकेट, ग्राम-पितौरा, कायमगंज,
फर्रुख़ाबाद- २०७५०२

कहानी

माई बाड़ा

रेत पर बसा नगर बहुत सुंदर लग रहा था. आस्था की डोर में बंधी वर्गविहीन भीड़ के रेले संगम की तरफ बढ़ रहे थे. हालांकि कुंभ के मुख्य स्नान पर्व मौनी अमावस्या में अभी तीन-चार दिन बाकी थे, पर भीड़ का दबाव अभी से बढ़ना शुरू हो गया था. प्रयाग में इस बार पड़ा कुंभ विशिष्ट योग में पड़ने के कारण साधु-संतों व आस्थावानों के लिए विशेष महत्व का था.

बांध पर ऊंचाई पर खड़े होकर देखने से कुंभ का विहंगम दृश्य दिखता था, कि हम इसी दुनिया में हैं. लगता था, स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आया हो. जगह-जगह पंडालों से उठता यज्ञ-हवन आदि का पवित्र धुआं, मंत्रोच्चार, संगम नोज पर ध्यान लगाकर बैठे साधु-संत, ऊंची तनी धर्म ध्वजाएं, रेत पर बैठे ध्यानस्थ साधु और बाबा गण, वातावरण को पवित्र बनाता शंखनाद अनूठा संस्पर्श प्रदान कर रहा था. कल-कल करतीं गंगा मइया जीवन में गति और लय का संदेश-सा देती प्रतीत हो रही थीं.

संगम नोज पर अच्छी चहल-पहल थी. वैसे भी, कुंभ के दिनों में संगम नोज पर रात और दिन का फ़र्क़ ख़त्म हो जाता है. संगम नोज को प्रकाश से नहला देती हैं मरकरी लाइटें और आस्थावानों की यहां बराबर चहल-पहल बनी रहती है. जिसे जब मौक़ा लगा, गंगा मइया में डुबकी लगाने से चूकता नहीं है. पुण्यतोया गंगा किसी से कुछ लेती कहां हैं, बस देती ही हैं. वह किसी को नकारती नहीं हैं.

भोर का समय था. अभी लाइटें बंद नहीं हुई थीं. कई एकड़ में बसा कुंभ मेला क्षेत्र रंग-बिरंगी रोशनी में नहाया हुआ था. इतनी आकर्षक छटा बिखेर रही थीं लाइटें, कि आलोक-पर्व की साज-सज्जा भी लजा जाये.

संगम नोज के दक्षिण में क़रीब एक किलोमीटर दूर पीपे का पहला पुल था. पीपे के इस पुल से लोग गंगा पार करते थे. गंगा पार करते ही शुरू हो जाते थे नंगा साधु-संतों के अखाड़े, धूनी रमा कर खुद को दूसरी दुनिया या यूं कहें कि दूसरे लोक से जोड़ चुके अलमस्त-फक्कड़ नागा साधुओं-साध्वियों के डेरे. चूंकि यहां अखाड़े ही बनाये गये थे, अतः इस मार्ग को अखाड़ा मार्ग कहते थे. अखाड़ों को संगम के करीब ही बसाया गया था, ताकि मुख्य स्नान पर्वों पर शाही स्नान में नागा संतों को दिक्कत न हो तथा कोई अप्रिय घटना न हो.

अखाड़ों के इन्हीं विशाल कैंपों के बीच स्थित था, दशनामी जूना अखाड़े का कैंप. अधिकांश नागा संत, भोर का स्नान कर लौट आये थे. पांच-पांच, छह-छह के गुटों में बैठे नागा संत आग ताप रहे थे. बीच-बीच में वे चिलम खींच कर उसे बग़ल के संत को पकड़ा रहे थे. आंखें अंगारों की मानिंद धधक रही थीं. उनके चिमटे उनके साथ थे. ये नागा स्नान के बाद की हवन आदि क्रियाओं से निबट चुके थे. कुछ नागा संत आग के समीप बैठकर ही भस्म और रेती को बदन पर चढ़ा रहे थे. अखाड़े में श्रद्धालु भी आ-जा रहे थे. धूनी के पास बैठे एक नागा संत इन्हें प्रसाद वितरित

।। सुधीर अग्निहोत्री ।।

कर रहे थे - किशमिश और मिश्री का प्रसाद.

अखाड़े के अंदर ही स्थित था - माई बाड़ा. नागा साध्वियों की शाखा. नागा साध्वियां माई बाड़े से कम ही बाहर निकलती हैं. इन्हें आसानी से सिर्फ शाही स्नान के समय ही देखा जा सकता है, जब ये समूह में स्नान के लिए अखाड़े के जुलूस के साथ निकलती हैं.

माई बाड़े में भी चहल-पहल थी. नागा साध्वियां आग को घेर कर बैठी थीं. जनवरी की ठंड अपने पूरे शबाब पर थी. बड़ी-बड़ी जटाएं, बदन पर भस्म का लेप, कंठ में रुद्राक्ष की बड़ी-बड़ी मालाएं. ये सभी दीक्षित नागा संन्यासिनें थीं. चिलम से इन्हें भी गुरेज़ नहीं था. आखिर माया के बंधनों को तोड़ मन को ऊपरी दुनिया में रमाने का यही तो एक मात्र साधन था. एक अलमस्ती इन पर तारी हो रही यी.

माई बाड़े में आग के घेरे से कुछ दूर चिलम हाथ में लिये बैठी थी विमला. अब उसके विमला मां बनने में ज़्यादा समय नहीं बाकी था. नागा साध्वी की दीक्षा आसानी से नहीं दी जाती. सिर्फ कुंभ के अवसर पर गुरू दीक्षा देते हैं. न तो दीक्षा ही आसान होती है और न ही गुरू इसे आसानी से देने को राज़ी होते हैं. फिर अवसर भी रोज़-रोज़ नहीं आता. कुंभ की प्रतीक्षा करनी पड़ती है.

१ मार्च १९६६;
बी.ए., एल.एल.बी.,फोटोग्राफी में सर्टिफिकेट कोर्स

लेखन : देश की अग्रणी पत्र-पत्रिकाओं - हिंदुस्तान, अक्षरा, मनस्वी, देशबंधु, अमर उजाला, दैनिक हिंदुस्तान, दैनिक जागरण, दैनिक ट्रिब्यून, लोकमत, नयी दुनिया, दैनिक भास्कर, कथाबिंब, कथ्यरूप, मसि कागद, राजस्थान पत्रिका, अमृत प्रभात, नॉर्दन इंडिया, पत्रिका और लोकायत आदि में कविताएं, कहानियां, व्यंग्य, संस्मरण, पुस्तक समीक्षा, लघुकथाएं, लेख व रिपोर्ट आदि प्रकाशित.

संपादन : वर्ष १९८८ से पत्रकारिता, लेखन व साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय. संवाददाता/उप संपादक के पद पर दैनिक 'आज', 'स्वतंत्र चेतना', 'जनसत्ता एक्सप्रेस'; सहायक संपादक के पद पर साप्ताहिक 'गंगा यमुना' आदि समाचार पत्रों में कार्य किया. फ़ीचर संपादक, नवभारत हिंदी दैनिक, भोपाल; वरिष्ठ उप संपादक, दैनिक जागरण, भोपाल. समाचार संपादक, नयी दुनिया, रायपुर (छ.ग.) मनोरमा के संपादकीय विभाग में १९९७ से २००० तक उप-संपादक; 'कुसुम परख' का संपादन (२००२-२००४).

विशेष : दैनिक भास्कर (राजस्थान संस्करण) के लिए ४४ दिन के महत्वपूर्ण आयोजन महाकुंभ-२००१ का नियमित विशिष्ट संकलन. (एक्सक्लूसिव) कवरेज़ मांग के अनुसार दैनिक भास्कर (भोपाल), दैनिक भास्कर (चंडीगढ़) के लिए भी महाकुंभ संबंधी संकलन.

स्तंभ लेखन : जनसत्ता एक्सप्रेस के इलाहाबाद संस्करण के लिए 'तीर-ए-नजर' स्तंभ तथा 'गंगा यमुना' में ज़ीरो रोड स्तंभ लेखन.

सम्मान : 'कथाबिंब' द्वारा वर्ष २००३ के कथाबिंब (प्रथम) पुरस्कार से पुरस्कृत. वर्ष १९९५ में पत्रकारिता के लिए हंसवाहिनी सम्मान, वर्ष २००० में कहानी के लिए हंसवाहिनी हिंदी कहानी सम्मान. कविता के लिए वर्ष १९९६ में 'काव्य श्री' काव्यरूप सम्मान. वर्ष १९९८ में हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा हिंदी कविता के लिए सम्मानित.

संप्रति : संपादकीय डेस्क प्रभारी, 'आई नेक्स्ट' (दैनिक जागरण, इलाहाबाद).

विमला ने चिलम का एक ज़ोरदार कश लगाया. धुआं बाहर करते-करते उसकी आंखों की सुर्ख़ी कुछ और बढ़ गयी. वह हलके से मुसकरायी. शायद दीक्षा से पहले आने वाले अवरोधों को पार कर लेने की उसे ख़ुशी थी. अब वह नागा जीवन का अटूट हिस्सा बनने जा रही थी. उसने अपनी बढ़ी हुई लटों पर हाथ फेरा. कुछ समय बाद ये उससे जुदा हो जायेंगी. उसका सिर मूड़कर उसे गंगा तट पर अनवरत बारह घंटों तक शस्त्र और शास्त्र की दीक्षा दी जायेगी.

चिलम की आग अब उस तरह नहीं धधक रही थी, जैसे कुछ देर पहले थी. विमला ने चिलम ठीक करने के लिए पास पड़ी लकड़ी से अंगारे को हिलाया-डुलाया और फिर फूंक मारी. चिलम पहले की तरह धधकने लगी थी और उसी के साथ धधक उठा था उसका अंतरमन. उसने चिलम की आग को नहीं गोया अपने मन की आग को कुरेद डाला हो.

विमला अनायास ही अंगारों से भरी अतीत की पगडंडी पर लौट पड़ी. अंतरमन में तेज़ आंधियां-सी चल पड़ीं, जो संगम तट पर चल रही रेत भरी सर्द हवाओं पर भारी पड़ रही थीं.

❑

तब उसकी उम्र कुछ ज़्यादा नहीं थी. सिर्फ तेरह वर्ष की कमसिन बाला थी वह. मां के गुज़रते ही मानो उस पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा. अभी मां की चिता की आग ठंडी भी न हुई थी, कि बाप दूसरी बीवी ले आया. मानो बीमार पत्नी से छुटकारे और नया ब्याह रचाने का वह इंतज़ार ही कर रहा हो. राजनगर गांव में भूपिया के इस तरह बीवी लाने की आलोचना भी खूब हुई थी.

वह आदर्श सौतेली मां नहीं थी. वह विमला को अपनी राह का कांटा समझती थी. सौतेली मां ने आते ही उसकी पढ़ाई छुड़वा दी. विमला पर ज़ुलमो-सितम ढाये जाने लगे. शायद वह समझती थी कि विमला टूट जायेगी और खुद अपना रास्ता अलग कर लेगी. पर विमला इतनी कमजोर माटी की नहीं बनी थी. आंसू पी-पीकर वह दिन गुज़ारने लगी, पर टूटी नहीं. न ही घर छोड़कर भागने की ही उसने कोशिश की.

हां, उस दिन ज़रूर उसका मौन आक्रोश मुखर हुआ था, जब बर्तन साफ करते समय उसके कानों में, उसकी शादी की बातें पड़ी थीं. भूपिया मिट्टी के माधव-सा सब सुन रहा था, और सौतेली मां शारदा जोर-जोर से बोल रही थी, ''इस कलमुंही से छुटकारे का एक ही तरीका है. इसका भोंपना (ब्याह) करा दो. चली जायेगी, तो शांति से जी तो सकूंगी, वरना यह हम दोनों के प्राणों की प्यासी है, हत्यारिन.''

''पर इतनी जल्दी वर कहां मिलेगा?'' भूपिया धीरे से बोला.

''उसकी चिंता तुम छोड़ो जी. मेरे गांव का एक सेठ है. पहली मर गयी. दूसरी चाहता है. सुंदर लड़की की चाहत में बैठा है, वरना रिश्ते तो रोज़ आते रहते हैं. इसी इंतज़ार में निगोड़े की उम्र भी काफी निकल गयी.'' शारदा मुस्कराती हुई बोली.

''पर दान-दहेज़ के लिए पैसों का तो बंदोबस्त.....''

भूपिया हिचकिचाते हुए अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि शारदा हाथ मटकाते हुए बोल पड़ी, ''तुम्हारी टेंट में है ही क्या! अरे, तुम शादी को तैयार हो बस. शादी का सारा खर्च सेठ उठायेगा और तुम्हारी जेब भी भर देगा.'' बाद का वाक्य शारदा ने फुसफुसाते हुए कहा, पर बर्तन धोना रोककर बातें सुन रही विमला ने वह भी कुछ-कुछ सुन और समझ लिया था.

भूपिया ख़ामोश बैठा बीड़ी फूंकने लगा, जिसे शारदा ने उसकी मौन स्वीकृति मानकर सेठ के पास संदेशा भिजवाने के लिए पड़ोसी के बच्चे रामू से गांव में ही रहने वाले अपने एक रिश्तेदार को बुला लाने को भेज दिया.

विमला बेतरह घबरा उठी थी. वह भूपिया के सामने फूट पड़ी, ''बापू, मुझे नौकरानी की तरह इसी घर में पड़ा रहने दो, पर यह जुल्म मत करो.''

भूपिया मिट्टी के माधव-सा बैठा रहा. विमला पैर तक पकड़कर गिड़गिड़ाई, पर भूपिया टस-से-मस न हुआ. उसके ज़्यादा रोने-गिड़गिड़ाने पर शारदा ने उसकी पीठ पर एक ज़ोरदार लात जड़ी, ''करमजली, क्या हमारे प्राण लेकर ही जायेगी. महारानी बनने का ख्वाब देख रही है, लुच्ची. तेरी इतनी मजाल, जो तू हम लोगों की बातों में दख़ल दे. कुतिया....'' शारदा उसे बाल पकड़कर घसीटते हुए बर्तन धोने के चट्टे पर ले आयी और बलपूर्वक बैठालते हुए बोली, ''उचकना मत यहां से.''

विमला ने आंसुओं को पोंछा और बुझे मन से बर्तन साफ़ करने लगी. रह-रहकर आंखों से आंसू की मोटी-मोटी बूंदें टपक कर बर्तनों के गंदे पानी में मिल जाती थीं. बेमेल शादी से विमला के प्रतिकार के बाद शारदा ने उसे और अधिक प्रताड़ित करना शुरू कर दिया था.

अंततः वह दिन भी आ गया, जब विमला की डोली उठी. डोली, जो उसे अर्थी-सी लगी थी. तब उसकी उम्र पंद्रह से भी कुछ कम ही थी, और दूल्हे के रूप में उसे मिला नेकचंद लगभग उसके बाप की उम्र का था. विमला की शादी नहीं, सौदा हुआ था.

❑

कौशल नेकचंद का दूर के रिश्ते में भांजा था और दिल्ली में किसी निजी फर्म का मुलाज़िम. नयी-नयी मामी उसे बहुत पसंद आयी थी और वह बराबर मामी से रब्त-ज़ब्त बढ़ाने की फ़िराक़ में लगा रहता था. शादी के बाद से विमला की शारीरिक प्रताड़नाएं और गाली-गलौज का दिन भर चलने वाला सिलसिला तो ख़त्म हो गया था, पर उसकी मानसिक व्यथा और अधिक बढ़ गयी थी.

शादी के बाद पहली ही रात का उसका अनुभव बड़ा मायूस कर देने वाला था. नेकचंद उससे लिपट कर लेटा था. पुरुष का पहला स्पर्श था. धीरे-धीरे विमला चीटियों के काटने की अनुभूति से भर उठी. शरीर की गरमाहट बढ़ने लगी. वह कसमसा कर नेकचंद से लिपट गयी. पर नेकचंद कुछ कर पाने से पहले ही पस्त पड़ गया. विमला उस चौड़े-सुसज्जित पलंग पर बिछे मख़मली गद्दे पर पड़ी देर तक कसमसाती रही. उसके अंदर रेत में पड़ी मछली जैसी तड़पन थी. उधर नेकचंद पास पड़े सोफ़े पर बैठकर सिगरेट पीने लगा. बिमला की कसमसाहट उससे छिपी न थी. वह कुछ सोच रहा था शायद इसी बारे में. इस बीच अंगुलियों के बीच दबी सिगरेट बुझ गयी थी. बुझी सिगरेट से अभी सफेद राख जुदा नहीं हुई थी. नेकचंद ने देर तक कोई कश नहीं लिया था. विमला ने करवट ली. उसने बुझी सिगरेट को गौर से देखा. उसे लगा नेकचंद की जवानी भी इसी सिगरेट की तरह बुझ चुकी है.

यदि पेट की आग ढंग से शांत हो रही हो, तो जिस्म की आग कुछ ज़्यादा ही बेचैन कर देती है. कुछ इसी दौर से विमला भी गुज़र रही थी. नेकचंद के यहां सुख-सुविधाएं सारी थीं. अच्छा खान-पान था. जल्द ही वह गदरा उठी. रूप-लावण्य और निखर आया. बस, अंदर की तपन उसे व्याकुल किये रहती. प्यासा रहना उसकी नियति बन गया था. ऐसे में उसे भी कौशल से नज़दीकियां भाने लगी थीं. दोनों की उम्र में बस उतना ही फर्क़ था, जितना एक

आदर्श विवाहित जोड़े में होना चाहिए. कौशल जब-तब दिल्ली से आ जाता और मामा-मामी के घर तीन-चार रोज़ रुके बिना न जाता. इस बीच वह मामी के संग काफी समय गुज़ारता.

एक दिन कौशल से हलके-फुलके हंसी-मज़ाक के बीच विमला बोली, ''मैंने कभी दिल्ली नहीं देखी है. कब ले चलोगे दिल्ली दिखाने. सुना है, जो दिल्ली जाता है, वहां की सुंदरता में खो जाता है. वापस नहीं लौटता.''

कौशल ज़रूरत के अनुरूप ढल चुके विमला के मनोविज्ञान और मनोभावों को बखूबी समझ चुका था. उसने दिल्ली की तारीफ के ऐसे पुल बांधे कि सचमुच विमला दिल्ली देखने को मचल उठी.

बूढ़ा ख़सम, जवान बीवी की हर फरमाइश पूरी करने में फ़ख़्र महसूस करता है. विमला के ज़्यादा ज़ोर देने पर नेकचंद उसे कौशल के साथ दिल्ली एक हफ़्ते के लिए घूम आने की इजाज़त दे बैठा. फिर क्या था. विमला को लगा कि सोने के पिंजरे से आज़ाद होने का सही वक़्त आ गया है. और फिर वह कौशल के साथ दिल्ली के लिए रुख़सत हो गयी.

गांव पार करते ही दोनों के व्यवहार में काफी खुलापन आ गया था, जो दोनों को अच्छा लग रहा था. विमला बड़ी उन्मुक्त दिख रही थी, वह उन्मुक्तता इस उम्र के लिए सहज और स्वाभाविक भी होती है.

दिल्ली पहुंचते ही कौशल ने विमला को ऐसी दिल्ली दिखाई कि बस वह दिल्ली में खोकर रह गयी. दोनों दिल्ली के होकर रह गये. एक हफ्ता कब गुजर गया, पता नहीं चला. पर विमला को न वापस लौटना था, न वह लौटी. कौशल भी यही चाहता था. उसने जल्द अपना रहने का ठिकाना बदल दिया. पुरानी नौकरी छोड़कर एक कैसेट कंपनी में काम करने लगा. दिल्ली जैसे शहर में कौशल का नया पता-ठिकाना खोज पाना नेकचंद के बूते की बात न थी. एक-दो मर्तबा उसने कोशिश भी की, फिर पस्त होकर बैठ गया.

विमला और कौशल के बीच उन्मुक्तता से भरे कुछ दिन बहुत अच्छे गुजरे. उसका भरोसा और निर्भरता कौशल पर बढ़ती गयी. विमला को लगा, उसे किनारा मिल गया.

भरोसा और यक़ीन जैसी बातें दिल्ली में दम तोड़ चुकी हैं. यहां खोने वालों को ठोकरें भी खानी पड़ती हैं. कौशल जिस कैसेट कंपनी में काम करता था, उसमें कई लड़कियां भी कार्यरत थीं. स्वभाव से रंगीन कौशल जल्द ही इन्हीं आधुनिकताओं में से एक के चक्कर में ऐसा पड़ा कि विमला उसे राह का कांटा लगने लगी.

विमला, कौशल के स्वभाव में आये परिवर्तन को पढ़ रही थी. एक दिन बुझे स्वर में कह बैठी, ''क्या इसीलिए लाये थे मुझे दिल्ली. मैंने तुम पर भरोसा कर घर-बार छोड़ा और तुम मुझे मझधार में छोड़ते नज़र आ रहे हो.'' विमला की आंखें डबडबा आयीं.

''तुम ठीक समझीं. मैं स्वीटी के बग़ैर नहीं रह सकता. फिर तुम्हारी जैसी औरतों का भरोसा क्या?'' कौशल कुटिलता से मुसकराया.

''तो मैं कहां जाऊं? क्यों भरोसा दिलाया था मुझे. क्यों कहा करते थे तुम्हें नर्क से निकालकर स्वर्ग-सी ज़िंदगी दूंगा?'' विमला के स्वर में आक्रोश था.

''भाड़ में जाओ तुम. मैंने क्या तुम्हारा ठेका ले रखा है.'' कौशल ने सख्त लहज़े में कहा और चला गया.

विमला को यक़ीन नहीं हो रहा था कि उसे यह दिन भी देखना पड़ सकता था. कौशल, स्वीटी के साथ फुर्र हो चुका था. विमला के सामने अंधेरा-ही-अंधेरा था. वापस नेकचंद के पास भी नहीं जा सकती थी और बाप के घर जाने का सवाल ही नहीं उठता था.

समाज में औरत से स्वार्थरहित हमदर्दी दिलाने वाले कम ही होते हैं. ज़्यादातर की निगाह उसकी ख़ूबसूरती पर ही होती है. असहाय और बेबस विमला से जब मोहल्ले के ही एक युवक महेश ने हमदर्दी दिखायी, तो वह उसकी तरफ खिंची चली गयी. महेश के साथ कौशल का उठना-बैठना था और इस नाते उसका घर आना-जाना था. सारी बातें उसे मालूम थीं. बजाय दोस्ती का हवाला देकर कौशल को समझाने के, महेश, विमला के प्रति सहानुभूति जताने लगा.

बेसहारा लता, सहारा पाते ही जैसे उससे लिपट जाती है. महेश की सहानुभूति पाकर विमला उसकी तरफ खिंची चली गयी. किनारा पा लेने के भ्रमजाल, में फंसी विमला अब महेश पर भरोसा कर बैठी. वह अपना सब कुछ, महेश को दे बैठी, जो एक नारी की पूंजी होती है.

शुरू-शुरू में सब कुछ ठीक-ठाक चला, पर महेश था तो कौशल का दोस्त ही. महेश के आचरण की मिठास के कारण विमला का विश्वास उस पर सघने लगा था. उसे महेश से किसी बेरुख़ी या बेवफ़ाई की उम्मीद न थी. महेश व्यवहार ही कुछ ऐसा करता था कि विमला का यक़ीन क़ायम रहे. एक दिन आत्मीय क्षणों में वह विमला से बोला, ''चलो तुम्हें कहीं घुमा लाते हैं. इस समय उत्तराखंड का मौसम बड़ा सुहाना होगा. वहीं चलते हैं. चलोगी न.''

महेश की बात सुनकर विमला खिल उठी, ''तुमने तो मेरे मन की बात कह दी. जी बदल जायेगा. बहुत दिनों से कहीं घूमने

भी कहां गयी. इसी दिल्ली में घुट रही हूं.'' बाद का वाक्य कहते हुए विमला थोड़ी संजीदा हो उठी.

जल्द ही यात्रा की तैयारी हुई. मसूरी, देहरादून और हरिद्वार की सैर करने के बाद दोनों ऋषिकेश आ गये. यहां दोनों, एक होटल में ठहरे थे.

विमला को ऋषिकेश बहुत भाया. ऋषिकेश से बद्रीनाथ के लिए जाने वाला सर्पीला मार्ग, स्वर्ग मार्ग भी कहलाता है. मान्यता है कि इस मार्ग से जाने वाले स्वर्ग पहुंचते हैं. पांडव भी इसी मार्ग से स्वर्ग के लिए आगे बढ़े थे. साधुओं के आगे बढ़ते झुंड विमला को मुक्ति-भाव से भर देते. घने जंगलों और पहाड़ों के बीच से होकर गुज़रने वाले मार्ग विमला को बहुत अच्छे लगते. न जाने क्यों उसे साधु-संतों की जीवन-शैली बहुत प्रभावित करने लगी थी. गंगा के घाट पर पत्थरों को पार करती वह किनारे-किनारे दूर तक निकल जाती. वहीं ध्यानस्थ बैठे साधु-संत, तो कहीं चिलम फूंकते नागा संतों के गुट उसे प्रभावित करते.

उस दिन वह स्वर्ग मार्ग से देवेंद्र नगर तक गयी थी. वहां जगह-जगह साधु-संतों के डेरे लगे थे. प्राकृतिक परिवेश, अलमस्ती, दीन-दुनिया से अलगाव और परमात्मा से आत्मा के मिलन के आध्यात्मिक प्रयासों ने उसे प्रभावित किया. शायद इस प्रभाव के पीछे उसका कड़वा अतीत भी एक कारण था.

अचानक विमला गंगा की तरफ़ हाथ उठाकर महेश से बोली, ''सचमुच महेश, ऋषिकेश कितना अच्छा है. मन करता है, यहीं बस जायें.''

''तो क्या जोगन बनने का इरादा है?'' महेश ने कुटिल मुसकान के साथ कहा. विमला को उसका यों मुसकराना अच्छा न लगा. उसने गौर से ऊपर से नीचे तक महेश को देखा, तो वह कुछ सकपका-सा गया. उसने आंखों पर काला चश्मा चढ़ा रखा था. विमला उसकी आंखों के भावों को नहीं पढ़ सकी. अगले दिन जब बिमला सो कर उठी तो महेश को बिस्तरे पर न पाकर चौंक पड़ी. 'कहां गया इतनी सुबह,' वह बुदबुदायी. तभी उसकी नज़र टेबल पर रखी एक स्लिप पर पड़ी. वह स्लिप उठाकर पढ़ने लगी. विमला स्तब्ध रह गयी. महेश भी उसे मझधार में छोड़कर चला गया था. वह भागती हुई रिसेप्शन पर आयी.

''साहब चले गये क्या ?'' उसने तत्परता से रिसेप्शनिस्ट से पूछा.

''हां, उन्हें शायद मुंबई की ट्रेन पकड़नी थी. कह रहे थे कि मैडम आज वापस दिल्ली चली जायेंगी. मुझे ज़रूरी काम से मुंबई जाना है. वह होटल का बिल भी चुका गये. आप क्या दस बजे वाली गाड़ी से निकलेंगी?''

विमला कुछ न बोली. महेश द्वारा छोड़ी गयी स्लिप उसने हाथ में पकड़ रखी थी. उसने एक बार फिर स्लिप को गौर से पढ़ा. फिर उसे फाड़कर डस्टबिन में फेंकते हुए बुदबुदायी, ''जी भर गया. कमीने मर्द सब एक तरह के होते हैं. जाओ, तुम्हें कभी खोजने की कोशिश नहीं करूंगी. यही होती है मर्दों की दुनिया.'' वह वितृष्णा से भर उठी.

''कुछ कहा क्या मैडम?''रिसेप्शनिस्ट ने पूछा.

''नहीं.'' विमला का अंदाज चीख़ने जैसा था. रिसेप्शनिस्ट को कुछ असामान्य सा लगा. फिर वह वैसी ही होटल से निकल कर देवेंद्र नगर जाने वाले पतले सर्पीले रास्ते पर बढ़ चली, लगभग दौड़ती हुई सी. शायद इसी मार्ग पर आगे बढ़कर उसके भटके हुए जीवन को किनारा मिल सकता था. इस दुनिया को भूलकर वह ऊपरी दुनिया से तार जोड़ लेना चाहती थी. वह अंदर से अशांत, उद्वेलित, शांति के उस मार्ग पर दौड़ी जा रही थी. बाबाओं के डेरे शुरू हो गये थे.

❑

संगम तट पर हवाएं और सर्द हो चुकी थीं. तेज़ हवा संगम की रेती को भी साथ उड़ा रही थी. अतीत की पगडंडी पर बहुत आगे निकल चुकी विमला को पता ही न था कि हाथ में पकड़ी चिलम कब की बुझ चुकी है.

''उठ री विमला. तेरी दीक्षा का समय हो रहा है. दीक्षा के बाद तू मां विमला कहलायेगी. अब इसी माई बाड़े में तुझे शेष जीवन गुज़ारना होगा. ऊबेगी तो नहीं?'' मां राजेश्वरी पुरी ने उसे टटोलने के अंदाज में कहा.

विमला मानो सोते से जागी हो. उसने मां राजेश्वरी पुरी की तरफ देखते हुए कहा , ''नहीं माई. अब बाहरी दुनिया से मुझे क्या मतलब, अब तो ऊपर की दुनिया की हो चुकी हूं. बहुत खोखली है बाहर की दुनिया.'' छोटे-से जीवन में तीन-तीन मर्दो से मिली चोटों की पीड़ा पलभर को उसके चेहरे पर सिमट आयी. सौतेली मां और खूसट बाप से मिली प्रताड़ना ने इस पीड़ा को और घनीभूत बना डाला था.

विमला ने चिलम रेती में रख दी और माई बाड़े को ध्यान से देखा. उसे बड़ा अपना सा लगा माई बाड़ा. फिर वह उठी और मां राजेश्वरी पुरी के पीछे-पीछे चल दी.

८०/७८/१, खुशहाल पर्वत,
इलाहाबाद -२११००३
मो.: ९८३८०७७५८४

कहानी

मृग-मरीचिका

तड़के सुबह मौसी की नींद खुल गयी. नीम अंधेरे में वे बिस्तर पर पोटली सी दिख रही थीं. 'बिट्टो......उठ गयी क्या? प्रार्थना का वक़्त हो गया है. चल, मुझे ले चल.'

वैसे तो मैं भी सुबह चार साढ़े चार बजे तक उठ जाती हूं. छुटपन की आदत है मेरी पर यहां सोने में बड़ा मज़ा आ रहा था. जाड़ों की भोर......लिहाफ़ की गरमाहट से निकलने का मन ही नहीं कर रहा था. लेकिन मौसी के पैर लिहाफ़ से बाहर निकल आये थे. पलंग के नीचे चप्पलें टटोलतीं वे बुदबुदा रही थीं - 'हे प्रभु....हे मालिक...'

अब मेरा लेटे रहना दूभर था - 'मौसी, रात बुख़ार में आप तपती रहीं. आज तो आराम कर लीजिए.'

'प्राण छूटने की तैयारी में.....और आराम? पिछले बीस सालों से एक दिन भी प्रार्थना, सत्संग नहीं छूटा. न जाने किन पापों का फल है जो हफ़्ते भर से गुरुजी के दर्शन नहीं कर पायी. आज तो ले चल बिट्टो.'

उनके इसरार के आगे मैं मजबूर थी. लगभग छः महीनों से मौसी की ऐसी ही हालत चल रही है. बुख़ार चढ़ता उतरता रहता है. सूख कर हड्डी हो गयी हैं. नाते रिश्तेदार हफ़्ते दस दिन को बारी-बारी से आकर देख जाते हैं. अमेरिका से संजय भी आकर देख गया है. ज़्यादा रह भी तो नहीं सकता. नौकरी पेशा आदमी है. आजकल नौकरियां कितनी जद्दोजहद के बाद मिलती हैं. हालांकि विदेश में रोज़गार के अवसर अधिक हैं पर नौकरी मिलना टेढ़ी खीर. मैं भी ज़्यादा कहां रह पाऊंगी. पंद्रह दिन का इंतज़ाम करके आयी हूं घर पर. पति अस्थमा के मरीज़, बेटी कॉल सेंटर में सर्विस करती है. रात बिरात जाना पड़ता है ऑफिस. बेटा बहू दोनों बैंक में ऑफीसर. सुबह आठ बजे के निकले रात आठ से पहले कभी लौटते नहीं. ऐसे में पति दिन भर घर पर अकेले रहते हैं. लेकिन यहां भी आना जरूरी था. मौसी का सबसे ज़्यादा लगाव मुझसे ही है. जबसे संजय अमेरिका जा बसा है मौसी मुझे और अधिक चाहने लगी हैं.

कांपते क़दमों से छड़ी के सहारे मौसी स्विच बोर्ड तक पहुंची और लाइट जला दी. कमरा दूधिया रोशनी में नहा उठा. मैंने झटपट उनके मुंह धोने के लिए पानी गरम होने रखा. मिनिटों में हम तैयार होकर गेट के बाहर थे. तारों भरी अमावस की बिदा होती रात अपने आग़ोश में ख़ामोशी सिमटाये आहिस्ता-आहिस्ता ढल रही थी. जल रहे थे सिर्फ़ गलियों में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर लगे कोहरे के कारण धुंधलाए बल्ब. रास्ता सूना नहीं था. आश्रमवासियों का समुदाय तेज़ी से प्रार्थना के लिए चबूतरे की ओर जा रहा था. चबूतरा यानी सत्संग हॉल ....मौसी के घर से बहुत नज़दीक है चबूतरा. सुबह साढ़े चार बजे प्रार्थना शुरू हो जाती है फिर सब खेतों पर काम करने चले जाते हैं. ठंड हो, गर्मी हो या बरसात. इस नियम में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता. माइक खड़खड़ाने लगा था. दूर बग़ीचों में बड़ी तादाद में रहनेवाले मोर बावजूद ठंड के आवाज़ लगा रहे थे. मानो वे भी प्रार्थना में शामिल होने जा रहे हों.

।। संतोष श्रीवास्तव ।।

'तबीयत कैसी है माताजी?' मौसी की पड़ोसन सीता बहनजी शॉल ओढ़ती हुई उनके संग संग चलने लगीं. वे तेज़ी से आयी थीं इसलिए आवाज़ कांप रही थी. आवाज़ मौसी की भी कांप रही थी - 'ठीक हूं......रात बुख़ार उतर गया था. तब से आराम लग रहा है.'

मौसी ने जैसे अपने कष्टों पर विजय पा ली थी. ग़ज़ब की जिजीविषा है उनमें. आश्रम में रहनेवाली सबसे कर्मठ औरत वही हैं. कठोर श्रम करते हुए उन्होंने यहां सालों साल गुज़ार दिये. चौबीस साल की थीं तब ब्याह हुआ था. मौसाजी प्रख्यात तैराक थे. बड़ी-बड़ी तैराक़ी प्रतियोगिताएं जीती थी उन्होंने....लेकिन उनका शौक़ ही उनका काल बन गया. अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिता में शामिल हो इंग्लिश चैनल पार करते हुए वे लहरों की चपेट में आ गये. तब मौसी गर्भवती थीं. मौसाजी की मृत्यु के तीन महीने बाद संजय हुआ. उन्होंने एकल अभिभावक बन संजय के लालन-पालन में कोई कसर नहीं छोड़ी. आर्थिक संकट था नहीं, मौसाजी की गिनती शहर के रईसों में होती थी. फिर भी बिना पिता के बच्चे की परवरिश उस ज़माने में एक चुनौती थी.

संजय भी होनहार निकला......विज्ञान में थीसिस लिखने वह अमेरिका चला गया और वहीं बस गया. मौसी ने भी उसके लिए ऐसी लड़की ढूंढ़ी जो न केवल रूप रंग में बेमिसाल थी बल्कि तमाम पथरीली, कांटों भरी राह को अपने अनुकूल बनाती अपने बल पर पढ़ - लिख कर कॉलेज में लेक्चरर थी. मौसी कहती थीं औरत की ज़िंदग़ी हर हाल में यातना भरी. चाहे कितनी भी सुख सुविधाएं हों पर न जाने कहां से दुख झन्न से गिरता है और छोटे बड़े सुखों को अपने में समेट लेता है. इस लड़की .....वंदना के संग भी हादसों का सिलसिला लगा रहा. पहले मां फिर पिता की मृत्यु.....छोटी बहन की ज़िम्मेदारी, वंदना ने ख़ुद को तराशा है....गढ़ा है और इतनी सफाई से कि कहीं आड़ी तिरछी आकृति नहीं....सांचे में ढला......मुग्ध करता व्यक्तित्व.......मौसी ऐसी लायक़ बहू पा धन्य थीं....छोटी बहन की शादी वंदना ने पहले ही निपटा दी थी. अमेरिका में लेक्चररशिप मिलते ही वंदना मौसी से ज़िद्द करने लगी थीं अमेरिका चलकर रहने की......पर मौसी का मन आश्रम की ओर अधिक था. मौसाजी के बाद वे हर साल होली और बसंत के भंडारे में आश्रम आती थीं. पता नहीं उनका मन सचमुच विरक्त हो रहा था या जीवन की असुरक्षा उन्हें बार-बार यहां आने पर मजबूर करती थी. अकेलेपन की पीड़ा, अपने स्वाभिमान की रक्षा कि किसी पर बोझ न बनें लेकिन औरत बेबस तब हो जाती है जब मर्दों के समाज में वह सिर्फ मादा के रूप में देखी जाती है. मुझे मौसी के दुख मथानी की तरह बिलोते रहते. अम्मा के बाद मौसी ने ही मुझे संभाला था. अम्मा की हूबहू प्रतिमा मौसी ने मुझे कभी मां की कमी महसूस नहीं होने दी. चौबीस साल की उम्र से जो वैधव्य धारण किये हैं......रेशम क़िमख़ाब के रंगीन कपड़े, ज़ेवर, व्रत, त्योहार, मांगलिक उत्सवों से दूर......जब इस तरह समाज में रहना है तो क्यों न आश्रम में रहें. गुरूजी कहते हैं, 'ख़ुद संसार में रहो पर संसार को अपने अंदर मत रहने दो.' 'ईश्वर तेरो नाम, जो ध्यावें सो ही तरे....'

'ऐं, मंगलाचरण शुरू हो गया? गुरू महाराज आज जल्दी आ गये. बिट्टो.....मुझे ये खंभे से टिका कर बैठा दे.' विशाल हॉल में जहां-तहां सुंदर पच्चीकारी वाले, खंभे थे. पूरे हॉल में बिछी दरियां...पाठियों के लिए थोड़ा ऊंचा स्थान .....चादरें, मसनदें......चौकी पर रखी पोथी....सामने गुरूजी का सिंहासन और खचाखच भरा हॉल. मैं भी मौसी के बगल में जैसे तैसे समायी. भीड़ इस क़दर थी कि गुरूजी के चेहरे को साफ़ देख पाना मुश्किल था. सफ़ेद बुर्राक़ धोती, कुरते और टोपी में उनका भव्य व्यक्तित्व

कथाबिंब की हितैषी व नियमित कथा-लेखिका

हमेशा मेरे आकर्षण का केंद्र रहा है पर आज जहां देखो सिर ही सिर....दर्शन मिलना दूभर.....मौसी ने हाथ जोड़ आंखें मूंदी और पाठियों की गायी हुई लाइनों को जनसमूह के साथ गुनगुनाने लगीं. गुरूजी कल नेपाल जा रहे हैं. दस दिन बाद मकरसंक्रांति के भंडारे पर लौटेंगे. इस बार भंडारे में बंगाल और उड़ीसा के लोग आयेंगे.....आयेंगे क्या, आना शुरू हो चुके हैं. आश्रम लोगों की भीड़ से कसमसा उठा है पर फिर भी कितनी शांति, कैसा अपार सम्मोहन कि मन इधर ही खिंचता है. जी चाहता है मोह माया छोड़ इधर ही आ बसूं....दीक्षा ले लूं पर सांसरिक ज़िम्मेवारियों से मुंह भी तो नहीं मोड़ा जा सकता.

प्रार्थना के बाद गुरू बचन हुए और धीरे - धीरे बड़ी ही शांतिपूर्वक भीड़ हॉल से बाहर निकल आयी. लेकिन बाहर आते ही भगदड़ सी मच गयी. कम उम्र की लड़कियां पी. टी. ग्राउंड की ओर बढ़ लीं, बाक़ी गेट की ओर. खेतों पर ले जाने के लिए वहां ट्रक तैयार खड़ा था. कुल दो ट्रक और इतने लोग लेकिन पंद्रह बीस मिनिट में ही फेरी पर फेरी लगाकर दोनों ट्रक सभी को खेत पर पहुंचा देते.

'बिट्टो......जा रही है न तू? मैं सीता बहनजी के संग घर लौट जाऊंगी. दस बजे तक तो तू लौट आयेगी,' मौसी ने मेरी पीठ पर हलके से दबाव डाला. पचहत्तर वर्षीया मौसी की बीमारी से दुर्बल देह कांप रही थी. वैसे उनका स्वास्थ्य हमेशा अच्छा रहा है. इक्का-दुक्का दांत ही टूटे हैं. शानदार सफेदी लिये बाल अभी तक रेशम जैसे मुलायम और कमर तक लंबे हैं. बिना चश्मे के अख़बार तक पढ़ लेती हैं. आश्रम में नौकर रखने की परंपरा नहीं है, फिर भी वे कभी भंडारघर से खाना नहीं मंगवाती. अपना खाना खुद बनाती

हैं. सिलबट्टे पर ताज़ा पिसा बारीक मसाला और उसमें भुनी सब्ज़ियां उन्हें ख़ास पसंद हैं. मैं आती हूं तो उनकी ख़ास यही फ़रमाइश रहती है.

सीता बहनजी का हाथ पकड़े मौसी घर की ओर चल दीं. सुबह के छः बज चुके थे. उजाला धीरे-धीरे फूटने लगा था. मैं ट्रक से लगी लकड़ी की सीढ़ी चढ़ ट्रक में जा बैठी. गेट पर लगे जवाकुसुम के पेड़ पर फुदकती चिड़ियों का शोर ट्रक की आवाज़ में खो सा गया. गेट से बाहर सड़क के किनारे-किनारे आश्रम के खेत ही खेत....ठंडी हवा चुभने लगी. मैंने शॉल में चेहरा नाक तक छुपा लिया. ट्रक में बैठी औरतें एक स्वर में भजन गाने लगीं. एक औरत कान के समीप होंठ ला फुसफुसाई, 'तुम राधाप्यारी की भांजी शकुंतला हो न ....मुंबईवाली.'

मैंने चकित हो उनके झुर्रीभरे सांवले चेहरे को देखा. 'राधाप्यारी अब बीमार रहने लगी हैं. नहीं तो एक दिन भी नहीं छूटता था जब वो खेतों पर न जायें. हम दोनों ने साथ-साथ ही आश्रम में दीक्षा ली थी. बीस बरस हो गये. वो पचपन की थीं मैं पचास की....पचपन की थीं पर पैंतीस -चालीस से ज़्यादा की नहीं दीखती थीं.....वैसे भी पचपन में कहीं बुढ़ापा आता है? पूरा बसंत रहता है औरत पर.'

उनके चेहरे पर जीवन से असंतुष्टि के भाव में साफ़ देख रही थी. आश्रम में रहकर भी वे छूट नहीं पायी मायाजाल से. ट्रक धक्के के साथ रुका. ट्रक की रेलिंग का पलड़ा सटाक से नीचे गिरा. मैं नीचे उतरी तो हरियाली के समंदर में आंखे ताज़गी और ठंडक में गोते लगाने लगीं. क़ैंची, दरांतीं, खुरपी और टोकरी के ढेर में से मैंने कैंची और टोकरी ले ली. फिर चाय पीने टंकी के पास चली आयी. खेतों से हटकर गुरूजी के लिए गार्डन छतरी लगायी जा रही थी. छतरी के नीचे एक कुर्सी और ज़मीन पर चटाई. यहीं विराजकर गुरुजी लोगों का दुख दर्द बांटेंगे. आज मुझे भी सवाल करना है उनसे. मन का बोझ हल्का करना है. लेकिन पहले काम....क़ैंची से मटर की भरी-भरी फलियां तोड़कर मैंने टोकरी में भर लीं और बोरे में जाकर उंडेल दीं. तमाम सब्ज़ियों से भरे बोरे ट्रक में लादकर आश्रम पहुंचाये जा रहे थे. पलक झपकते ही बोरे भरते और ट्रक में लद जाते. भक्तिभाव में डूबे आश्रमवासियों को श्रम की ज़रा भी थकान नहीं....क्या बच्चे, क्या जवान, क्या बूढ़े सब जुटे हैं. यह श्रम सेवा कहलाता है. और भी सेवाएं हैं....लोग आश्रम समिति से हाथ जोड़-जोड़ कर सेवा मांगते हैं....समिति के पदाधिकारी न उम्र देखते, न यह देखते कि अतीत में यह कौन किन पदों में था. अध्यापक को आश्रम के बग़ीचों में झाड़ू लगाने, घास काटने का काम दे देते हैं तो न्यायाधीश को सत्संग हॉल से सटे प्रसाद सेंटर में प्रसाद बेचने का काम....बड़े-बड़े पदों से रिटायर होकर या नौकरी छोड़कर आयी औरतें भंडार घर में अनाज बीनती हैं सब्ज़ियां काटती हैं, रोटियां बेलती सेकती हैं. सबसेवा में गिना जाता है. इसके लिए कोई तनख़्वाह नहीं दी जाती. मौसी को प्रसाद बेचने की सेवा मिली थी. आज तक भाग्य सराहती हैं वे.....'गुरूजी ने मुझे सेवा का मौक़ा देकर कर्मों का बंधन इसी जनम में काट दिया.'

यह आश्रम एक छोटा सा शहर ही तो है. जीवन की आवश्यकताओं के लिए कभी आश्रम से बाहर नहीं जाना पड़ता. पहले यहां शमशान था. शमशान के उस तरफ़ नदी बहती है. लोग दाह संस्कार करके नदी में डुबकी लगाकर घर लौटते थे. इस धर्म के संस्थापक गिरिराज महाराज शमशान से लगी सड़क से जब भी गुज़रते, भटकती आत्माएं उन्हें तंग करतीं. उन्हें तारने के उद्देश्य से और संसार को धर्म और आस्था की राह दिखाने के लिए शमशान भूमि पर यह आश्रम बना.....गिरिराज महाराज के बाद मौजूदा गुरू.....गुरूओं की सातवीं पीठ के हैं.

साढ़े आठ बजे सबको नाश्ते में गरम पूड़ियां और आलू की सब्ज़ी के पैकेट बांटे गये. सुबह की खुनक के बावजूद अब मौसम गुनगुना उठा था. सूरज की गुलाबी किरनों ने मटर के पौधों को सेक देकर हवा में उसकी मीठी खुशबू भर दी थी. मकर संक्रांति के भंडारे पर गुरूजी नेपाल से लौटेंगे इसलिए उनकी कुर्सी के पास लोगों की भीड़ थी. कैसा समा रहता है भंडारे पर.....पूरा आश्रम पीले फूलों से सज उठता है.....गुरूजी के हाथों माथे पर हल्दी रोली का तिलक और बूंदी के लड्डू का प्रसाद पा लोग धन्य हो जाते हैं. फिर भंडारा होता है...सभी लोग घर से बनाकर लाये प्रसाद को मिल बांट कर खाते हैं. शाम को आश्रम के कॉलेज के विद्यार्थी सांस्कृतिक कार्यक्रम नाच, गाना, नाटक प्रस्तुत करते हैं.

'गुरूजी...मन में बड़े दिनों से दुविधा है..पूछूं?' काम समाप्त कर मैं उनके सामने थी. उन्होंने अपनी तेजस्वी आंखों से पलभर मुझे देखा....उस क्षण मैं दीन दुनिया को भूल उन आंखों में समा गयी. मुझे एहसास हुआ कि यह जगत मिथ्या है और अगर सत्य है तो केवल अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करना.

'भंडारे तक हो न .....इंजीनियर कॉलेज के छात्रों द्वारा खेले जा रहे नाटक को देखना शांति मिलेगी.' उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा और पास रखे कटोरे से चिरौंजी दानों का प्रसाद मेरी

हथेली पर रख दिया. उस क्षण मैं असीम हो उठी. मुझे लगा जैसे मेरा पोर-पोर आत्मा बन मेरे शरीर को भारहीन, रुई के फ़ाहे सा हलका किये डाल रहा है और अब इस भारहीन शरीर में कोई दुविधा, कोई संशय नहीं. मैं गुरूजी के आगे नतमस्तक भाव विभोर हो गयी....न जाने गुरूमुख से ऐसी कौन सी वाणी मेरी आत्मा ने सुन ली कि मेरे मन पर रखे पर्वतों का बोझ दूधिया झरना बन बह चला. हवा में उड़ती सी घर लौटी. मौसी सीता बहनजी के साथ चाय टोस्ट का नाश्ता करती बतिया रही थीं - 'आ गयी बिट्टो...आ जा, चाय पी ले. थक गयी होगी.' मुझे लगा कहूं...मौसी, आज तो आत्मा की थकान उतार आयी हूं. आज थकना कैसा?

मौसी की तबीयत में काफ़ी सुधार था. दोपहर को खाने के दौरान बोलीं - 'बिट्टो, एक बार बैंक जाकर लॉकर से ज़ेवरों का डिब्बा लाकर दिखा दे. देख लूं क्या-क्या है? सबका हिस्सा निकाल दूं.....ज़िंदग़ी का क्या भरोसा....बुढ़ापा महारोग होता है.'

जानती हूं मौसी बेहद शौक़ीन तबीयत की हैं.....लेकिन वैधव्य की कुरीतियों ने उन्हें खुलकर जीने न दिया. मौसाजी के बाद वे ख़ुद को भूल अपनी इच्छाओं को मारकर संजय को होनहार बनाने का तप करती रहीं. अकेली औरत की ज़िंदग़ी चट्टानों और बीहड़ों का सैलाब.....ज़रा सा चूके कि लहूलुहान .....गोद में नन्हां संजय और मौसी की कमसिन, मोहक देह पर टिकी मर्दों की लोलुप निग़ाहें ......उस आंच से ख़ुद को बचाते हुए वे कितनी बार कलपी होंगी, थकी होंगी, भयभीत हुई होंगी, टूटी होंगी. शायद इसी टूटन ने उन्हें चट्टान - सा मज़बूत बना दिया है. कितना बेरहम अतीत होगा उनका जो संजय और वंदना की हज़ारहा कोशिशों के बावजूद उन्होंने सारी दुनिया के आकर्षण का केंद्र अमेरिका को रहने के लिए नहीं चुना....चुनी तो पल-पल मृत्यु का बोध कराती यह रूखी - सूखी आश्रम की ज़िंदगी. कहती हैं, 'मैं यहां संतुष्ट हूं, बड़ी शांति मिलती है यहां.' पर मैं जानती हूं उनका मन अभी पूरी तरह विरक्त नहीं हुआ है. पूजा, उत्सव उन्हें ख़ूब याद रहते हैं. साल छः महीने में एक बार अपनी कोठी में लौटकर वे देख आती हैं, नौकरों ने साफ़ सफ़ाई रखी है या नहीं. हर कमरा चमकता - दमकता मिलना चाहिए. झाड़ फानूस साफ़ सुथरे, शीशे-दरवाज़े चमकते हुए, परदे धुले, कालीन पर धूल की पर्त नहीं. ....बग़ीचे की क्यारियों में घास - फूस तो नहीं. मौसम आने पर आम, कठहल, इमली खूब फले होते हैं. जाकर संजय और मेरे लिए अचार डाल आती हैं, पापड़-बड़ियां बना आती हैं. ज़िंदगी से यह लगाव उनके लिए मकड़जाल सिद्ध हो रहा है या जीने का बहाना....मैं समझ नहीं पाती हूं.

जब आश्रम में आयी थीं तो क्वार्टर मिला था रहने को. दस रूपये महीने का. जैसा उनकी कोठी में सर्वेंट क्वार्टर है. देखकर संजय रो पड़ा था - 'मां, यहां रहोगी क्या?'

और तुरंत ही भेंट क्वार्टर के लिए एप्लाई कर दिया था. नये नकोर तीन कमरे, चौके, आंगन और छत वाले भेंट क्वार्टर को पा वे उसकी सजावट में जुट गयी थीं. आंगन में अनार, पपीते और तुलसी के पौधे रोपे थे. बाहर गेट पर बोग़नविला....बैंजनी फूलों पर गौरैयां दिन भर शोर मचातीं. मुझे उनका यह घर बहुत पसंद है पर मन में यही दुविधा तो सताती है कि यह भेंट क्वार्टर क्यों है? क्यों नहीं मौसी के बाद संजय यह घर बेच सकता क्यों इस घर को पाने के लिए उसे दीक्षा लेना ज़रूरी है और साल में कम से कम चार महीने रहना भी ज़रूरी है. मौसी कहती हैं - 'बिट्टो तू दीक्षा ले ले. दमादजी के साथ यहीं रह.....उधर कहां मुंबई की आपाधापी में पड़ी है. यह घर फिर मैं तेरे लिए गुरूजी से मांग लूंगी.' अपनी ही संपत्ति की मांग? आख़िर क्यों? क्यों नहीं मौसी के बाद यह घर संजय बेच सकता? आश्रमवासियों से इतना बड़ा अनुदान!!

मेरे सवालों का जवाब गुरूजी ने क्यों नहीं दिया....क्यों मुझे सम्मोहित कर नाटक देखने की राय दी? नाटक मैं ज़रूर देखूंगी, अपने विचलित मन का समाधान शायद पालूं. कभी-कभी मन करता है सच में दीक्षा ले ही लूं.....बेटा बहू पर गृहस्थी छोड़ पति के साथ यहीं आ बसूं. वे भी तो वहां बिस्तर ही भोग रहे हैं. यहां रहें तो शायद अच्छे हो जायें. बेटी अपनी मन मर्ज़ी की है. इतनी जगह शादी की बात चलाई हर जगह मनाही....नहीं करूंगी शादी, मुझे मेरे ढंग से जीने दो...तो जिये....मैं कहां तक आड़ बनी रहूं....यहां कितना अच्छा लगता है. न रेडियो, न टी.वी. की बकबक .... साफ़ सुथरा, हरा-भरा, खिला फूला आश्रम, सत्संग, भंडारे....खेत, सेवा भी मिल सकती है, अगर गुरूजी की कृपा रही...ज़न्म सार्थक हो जायेगा.......उस पार का किसने देखा अभी तो शांति से जियें.

झाड़ियों में करौंदा खूब फला है. कॉलेज की लड़कियां पंजों के बल उचक-उचक कर करौंदे तोड़ रही हैं और मुंह में, जेबों में भर - भर कर चटख़ारे ले रही हैं. गुरूजी नेपाल से लौट आये हैं और लड़के-लड़कियां मिलकर आश्रम को गेंदे के फूलों से सजाने में जुटे हैं. यहां लड़के-लड़कियों दोनों के छात्रावास हैं, इंजीनियर कॉलेज, डिग्री कॉलेज, जूनियर कॉलेज भी हैं. जिन्होंने इस धर्म की दीक्षा ली है और वे आश्रम में नहीं रहते हैं उनके बच्चे

यहां पढ़ते हैं.....उनकी शादियां भी यहां होती हैं. गुरूजी अंगूठी बदलवाकर एक दूसरे के गले में जयमाला डलवाकर शादी करवा देते हैं. हर चीज़ में सादगी...ज़िंदगी की जितनी आवश्यकता उतना ही ख़र्च...बस.

भंडारे के दिन मौसी का उत्साह देखते ही बनता था. समय से काफ़ी पहले वे मेरे साथ चबूतरे पहुंच गयी थीं. उन्हें आगे की पंक्ति में बैठने मिल गया था जहां से गुरुजी साफ़ दिखाई देते थे. दर्शन भी और सत्संग भी. दोनों पुण्य साथ-साथ. नेपाल से गुरूजी द्वारा लाये गये कंबलों की सेल शुरू हो चुकी थी. सेल के बाद भंडारा....जश्न जैसा माहौल था. सब भक्तिभाव में डूबे, ख़ुद को संसार से विरक्त मानने का भ्रम पाले जीवन में असंतुष्टि का भाव लिये....आश्रम के अंदर भी उतने ही लालयित जितने कि आश्रम से बाहर.

करीब सात बजे मेरा चिर प्रतीक्षित नाटक शुरू हुआ. मैंने अपने को एकाग्र किया. यह नाटक मेरे लिए मेरी शंकाओं का खुला दस्तावेज़ था ऐसा गुरूजी ने अपनी भावभंगिमा से मुझे बताया था. मेरा दिमाग़ अर्जुन की आंख बन गया. मंच पर गहन अंधकार था. अचानक एक मानव परछाई प्रकाश के बिंबों में उभरी जो बेचैनी से शून्य में भटक रही थी. यह परछाई उस अमीर व्यक्ति की आत्मा थी जिसकी कुछ ही घंटों पहले मृत्यु हुई थी. पर वह इतनी बेचैन थी कि न संसार में रह पा रही थी, न ईश्वर की शरण में जा पा रही थी. वह त्रिशंकु की तरह अधर में लटकी अपने ऐशोआराम से भरे घर को निहार रही थी. जिसकी एक-एक ईंट उसकी अपनी मेहनत का नतीजा थी...यह घर उससे छूट गया. ...यह धरती पर अपने घर लौटना चाहती है पर लौटे कैसे, उसका शरीर तो जलकर राख हो गया. तभी उस प्रकाश पुंज से आवाज़ आती है.....जब शरीर ही तेरा नहीं रहा तो ईंट पत्थरों का घर तेरा कैसे हो सकता है? सत् गुरू महाराज के बचन हैं...कुछ भी तेरा नहीं, बस आत्मा तेरी है सो उसे मोह माया से मुक्त रख और घर द्वार सब सत्गुरू के चरणों में आने वाली पीढ़ी के लिए भेंट कर दे....मुक्त हो जा....

यवनिका गिरते ही मेरी आंखों पर पड़ा परदा भी हट गया. नाटक बहुत सीधा सरल लेकिन गहरे अर्थ से भरा था. मैंने पाया कि मैं तमाम सांसारिक प्रपंचों से अलग आज ख़ुद को पा सकी हूं, खुद में उतर सकी हूं.

अगली सुबह मेरे दृढ़ निश्चय की पुख्ता दीवार ने मेरे बिखरे मन को समेट कर एक सुरक्षा सी प्रदान की. मैंने मौसी से कहा - 'मौसी मैं दीक्षा लेना चाहती हूं.' वे गद्गद् हो उठीं. मुझे पास बुलाकर खूब लिपटाया, चूमा.....पान रचे उनके होठों से मेरे गाल भी लाल हो गये. बैंक से मंगवाया ज़ेवरों का डिब्बा वे उठा लायी - 'अब तू दीक्षा ले रही है तो मुझे फिक्र नहीं इस लावलश्कर की....देख ये बाजूबंद, मांग टीका और नेकलेस वंदना को दे देना. मेरी सास ने दिये थे मुझे. ख़ानदानी अमानत है. सही जगह पहुचे तो अच्छा है. और ये कंगन मुझे मुंह दिखाई में मिले थे, इन्हें तू रख ले. मैंने तुझे जन्म नहीं दिया तो क्या..मैं तो तेरी यशोदा मैया हूं. कोठी में अलमारी में अलग-अलग ख़ानों में मैं सबके कपड़े रख कर नामों की चिट लगा आयी हूं. लहंगे, बनारसीं साड़ियां वंदना, तेरी बहू और बेटी और तेरे नामों की चिट लगी है, सो ले लेना बाद में....हां बिट्टो .....तू संजय को कोठी मत बेचने देना. तेरे मौसाजी ने बड़े चाव से खरीदी थी. अब मेरा क्या ....ज़िंदगी की संझा बेला.....कब प्राण निकल जायें.'

मैं अवाक.....समझ में नहीं आ रहा था कि विरक्त कौन है.....वे जो पिछले बीस वर्षों से ईश्वर को समर्पित रहीं या मैं जो ईश्वर की ओर अभी अभी उन्मुख हुई हूं.

७५/जॉय अपार्टमेंट, जे.बी.नगर,
अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००५९
फोन - ९८६९०४१७०७

कविता

एक चादर मैली-सी

रमेश यादव

फटी पुरानी
जर्जर
एक चादर मैली-सी
कंधे पर लिये
घूम रहा हूं
फेंक नहीं सकता
इसलिए मजबूरीवश
ढो रहा हूं.
खोज रहा हूं
ऐसे क़ब्रिस्तान को
जहां दफ़ना दूं इस
मनहूस चादर को
ताकि ख़त्म हो
जाये
बेरोज़गारी, अत्याचार,
भ्रष्टाचार, हिंसा,
जातीयवाद, प्रांतीयवाद
और अनगिनत भस्मासुर
जो इसके सूत-सूत में
बसते हैं.

४८१-१६१-बी विनायक वासुदेव, एन. एम. जोशी मार्ग, चिंचपोकली (प.), मुंबई- ४०००११.

कहानी

क़स्बे में क़हर के वे दिन

साहेब, आज भी मैं यह बयान नहीं कर सकता कि मैं वहां क्यों जाता था - उस मुड़ीतुड़ी गली में, पत्नी की मनाही के बावजूद. लगभग तीस बरस पहले की बात है. तब यह क़स्बा हिल स्टेशन की हदों से बाहर आ रहा था. नये खुल रहे उद्योग-धंधे इसे नया लिबास पहनाने लगे थे. उन दिनों लगभग हर शाम मेरा दुपहिया उस गली में अनायास मुड़ जाता था. जाड़े की उतरती सर्दियों में जब स्याह अंधेरा उस बस्ती के इर्दगिर्द घिर जाता, तो वहां से मुख्य सड़क की ओर जाती लंबी मुड़ीतुड़ी गली में ढिबरियों की चितकबरी रोशनी झांकने लगती थी. तब कई घरों के मर्द अपनी 'चखने' की दूकानों को 'पचास' और 'बहत्तर' की बोतलों से सजा कर तफ़रीह के लिए आनेवालों का इंतज़ार करने लगते. औरतें दिन भर की मसली-कुचली साड़ियों को अलगनी में टांग कर सस्ती रंगीन साड़ियां पहन, चेहरे को पानी के छींटों से ताज़ा कर केशों पर कंघा फिराती हुई तैयार होने लगती थीं.

मैं जानता था कि वहां धंधे जैसी कोई चीज़ नहीं होती. जब कभी अफ़वाह की तरह उड़ती ख़बरों में किसी जवान देह के सौदे की कोई घटना बेपर्द हो जाती तो वह अगले दिन के हलचली बहाव में बुलबुले की मानिंद ग़ायब भी हो जाती. ऐसी चर्चाओं को चटख़ारे ले कर सुनने-सुनाने की मध्यवर्गीय फ़ुरसत वहां किसी को नहीं थी. न जाने क्यों बाबुओं-साहबों के मुहल्लों में क़स्बे के ऐसे टोलों की पहचान रंगीन बना दी गयी थी जबकि ज़िंदगी की यह चहलपहल हर तरफ देखी जा सकती थी. आबादी के लगभग बीचोबीच किसी लावारिस सेठ की उजाड़ पड़ी ज़मीन पर वहां दर्जनों झोपड़ियां एक अर्से से बसी हुई थीं. कोई नहीं जानता कि कब इस टोले का नाम नीचा कुच्चा पड़ गया. चारों तरफ़ ऊंची इमारतों की कतार के बीच उसकी हैसियत के हिसाब से यह नाम शायद कुछ लोगों को फिट लगता होगा. वहां पहुंच कर मुझे अक्सर यह खयाल आता कि उन ऊंची छतों से नीचा कुच्चा के दड़बेनुमा घर विशाल डस्टबिन में छितराये कचरे की तरह दिखते होंगे.

सर, आपको आगाह कर देना मेरा फर्ज़ बनता है. अगर आप इस शहर के मिजाज से नावाक़िफ़ हैं तो किसी अजनबी गाइड की मदद से ऐसी गलियों में जाने का ज़ोख़िम नहीं उठाइयेगा. मौज-मजे के लिए सैलानी लोग यहां भरी जेब आते हैं और घंटे भर में ख़ाली जेब लौट जाते हैं. वे अपनी तलाशती निगाहों में नीली लालसा की लपटों से पहचान में आ जाते हैं. उनकी गुलाबी पुतलियां हवस के पीले झाग से गीली और ख़याली जुगाली से मदहोश दिखती हैं. मैंने दर्जनों बार निरीह पांवों को इस टोले से बाहर अकेले निकलते देखा है. इसी बिना पर कह सकता हूं कि इस टोले में रेड लाइट एरिया कहे जाने वाले इलाक़ों की सड़ांध नहीं पहुंची. साहेब, आप तो पढ़े-लिखे इन्सान दिखते हैं, इसलिए जानते ही होंगे कि हर चमकीली चीज़ सोना नहीं होती. उसी तरह यह भी जान लीजिए कि हर ग़रीब औरत बिकाऊ भी नहीं होती और ना ही हर बेरोज़गार मर्द दलाल होता है. चूंकि दलालों की मेहरबानी से ही हमारी तहज़ीब जोंक की तरह फलती-फूलती नज़र आ रही है, लिहाज़ा उनकी गिरफ़्त से बचने का फ़न ग़रीब बच्चा होश आने से पहले ही सीखने लगता है.

११ विद्याभूषण ११

खैर, आपकी मर्जी. आप यहां आ भी सकते हैं और नहीं भी आ सकते हैं. यहां पहुंच कर आपको कोई दिलकश नज़ारा देखने को मिलेगा या नहीं मिलेगा. यह तो आप जानें. मगर आप चाहें तो मैं यहां की दो पीढ़ियों की धूपछांही दास्तान सुना सकता हूं. कुल दो किस्तों में. यह क़िस्तों का मामला ऐसा है कि यहां की ज़िंदगी में अब जवान हो रही पीढ़ी का दख़ल साफ़ बढ़ा हुआ दिखता है. अप्पू लोहरा की जमात और उसके वारिसों के जीने-रहने में जितना फ़र्क़ मैं देख रहा हूं, वह दो पीढ़ियों के फ़ासले से जन्मा है. कहिए, तो शुरू हो जाऊं! आज मैं सिर्फ पहली किस्त का बयान करूंगा. अगली क़िस्त सुनने के लिए आपको दोबारा यहां आना पड़ेगा. आपसे मेरी गुज़ारिश सिर्फ यह है कि हमदोनों मनचले लोगों की तरह फ़ुटपाथ पर खड़े होकर देर तक गप नहीं हांक सकते. लिहाज़ा आपको मेरे साथ सामने वाले घर तक थोड़ी देर के लिए चलना पड़ेगा. फिर वहां कुछ देर बैठना भी होगा. भरोसा लीजिए कि आप मेरे साथ जब तक यहां हैं, फ़िक्र की कोई ज़रूरत नहीं. इस गली के लोग जानते हैं कि मैं अप्पू लोहरा का

दोस्त हूं और आज जब वह इस दुनिया में नहीं है, तब भी इस टोले का हालचाल पूछने की ख़ातिर चला आता हूं.

हां, एक खरी बात यह कि यहां आपको जायक़ेदार चाशनी में लिपटी कोई रंगीन कहानी नहीं मिलेगी. उस दौर की मुश्किलों के पिरामिडी अवशेष को आंकने का अवसर ज़रूर मिल जायेगा जो आंधी-पानी का मौसम गुज़र जाने के बाद भी यहां साबुत बचा है. नीचा कुच्चा की मुड़ीतुड़ी गली के बाद दूर तक फैला है यह टोला और उसके पीछे बसी है पुरानी बस्ती. सुना है कि रईसों के शहर मुंबई में ऐसे आबाद इलाक़े को झोपड़पट्टी कहते हैं और देश के दिल दिल्ली में इन्हें झुग्गी-झोपड़ी कहा जाता है. ऐसे इलाक़े यहां बस्ती या टोला कहलाते हैं. उन दिनों क़स्बाई औक़ात से उबरते हुए उद्योगीकरण की दौड़ में हांफ़ता यह छोटा शहर पसरने लगा था. नयी आबादी के ज़लज़ले में आसपास के पुराने गांव डूबने लगे थे. वे आज भी उस बहाव में घुलते जा रहे हैं. हुज़ूर, आप चाहे जो कहिए, मैं अपनी कहानी वहीं से शुरू करूंगा जबसे मैं यहां आने लगा था, अपनी पत्नी की निषेधाज्ञाओं को मरोड़ता हुआ. इन लोगों के बीच पहुंच कर उनके खुलेपन का रोमांच मुझे आंदोलित करता था. इसलिए मैंने यहां आना बंद नहीं किया. कई बार आ कर पछताने के बावजूद फिर आने का ख़याल मुझे हमेशा खींचता रहा.

कई साल पहले मैंने इस गली के पीछे दूर तक फैले दोन में चार नज़दीकी लोगों के साथ छोटा-सा हाउस प्लॉट ख़रीद लिया था. हम सबको पूरी उम्मीद थी कि पुराने शहर के बीचोबीच होने के कारण वहां पर जल्द ही घनी आबादी बस जायेगी. लंबे इंतज़ार के बाद भी जब वहां नागरिक सुविधाएं नहीं पहुंची और मित्रों ने अपने प्लॉट्स बेच डाले तो मुझे उस अनजान इलाक़े में अकेला हो जाना परेशान करने लगा. धीरे-धीरे जहां तहां इक्के-दुक्के मकान उठने लगे थे, मगर आसपास का माहौल मनमाफ़िक़ नहीं लग रहा था. मुख्य सड़क से उतरते ही सामने मुड़ीतुड़ी लंबी गली. फिर ख़ूब बड़ा-सा परती दोन खेत और आख़िर में पेड़ों की छांव से बसी हुई बस्ती. उस समय तक वह पूरा इलाक़ा बंगाली और आदिवासी आबादी का मिलाजुला गढ़ था. कई वर्षों से लावारिस की तरह बंजर पड़ी मेरी ज़मीन पर पुटुस और थेथर के घने झाड़ खड़े हो गये थे. तसल्ली की बात यह थी कि उत्तर-मध्य बिहार के ज़िलों की तरह यहां ज़मीन क़ब्ज़ाने का रिवाज शुरू नहीं हुआ था. इत्तेफ़ाक़ से एक बंगाली इंजीनियर मेरा प्लॉट ख़रीदने को राज़ी हो गया तो झाड़ियों की सफ़ाई ज़रूरी हो गयी.

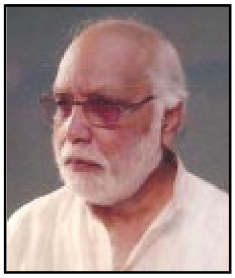

प्रकाशित कृतियां :

क. संग्रह : सिर्फ सोलह सफे, अतिपूर्वा, सीढ़ियों पर धूप, ईंधन चुनते हुए, आग के आसपास, ईंधन और आग के बीच, बीस सुरों की सदी, पठार को सुनो (सीडी).

गीत संग्रह : मन एक जंगल है, लब पर लय की लौ, एक्सप्रेशन (सीडी).

कथा संग्रह : कोरस, कोरसवाली गली, नायाब नर्सरी.

नाटक : आईने में लोग.

आलोचनाः वनस्थली के कथापुरुष बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध.

समाज दर्शन : 'झारखंड : समाज, संस्कृति और विकास'

संपादन : (पुस्तकें) कविताएं सातवें दशक की, प्रपंच, घर की तलाश में यात्रा, महासर्ग, धूमकेतुओं की जन्मपत्री, तीसरी आंख, हारे को हरनाम, काश-यह कहानी होती, एक थी सुभागी. (पत्रिकाएं): क्रमशः, अभिज्ञान, प्रसंग, वर्तमान संदर्भ. (दैनिक); देशप्राण, झारखंड जागरण के संपादकीय विभाग से थोड़े समय के लिए संयुक्त. लगभग दर्जन भर पुस्तकों का अनाम संपादन.

जीविका : अध्यापकी, किरानीगिरी, व्यवसाय, खेतीबारी और पत्रकारिता के सामयिक पड़ावों के बाद समाज, साहित्य और संस्कृति क्षेत्र में कई दिशाखोजी गतिविधियों से गुज़रते हुए संप्रति सृजन और विचार की शब्द-यात्रा.

उस ज़माने में रांची में आज की तरह दिहाड़ी मजदूरों की मंडी नहीं लगती थी. एक दिन मैं राज-मज़दूर खोजते हुए पीछे की बस्ती में पहुंच गया. बस्ती से पहले जो तालाब था, आज भी है, उसके किनारे-किनारे दस फुट चौड़ा रास्ता आप देख सकते हैं.

उस दिन भी वहां लड़के-लड़कियों की भीड़ जुटी थी. कोई मछली मारने में लीन, कोई ताश के खेल में मगन. कोई चना-गुड़ या नमकीन मुरही खाने में व्यस्त तो कोई बांसुरी बजाने-गाने में मस्त. आसपास की ज़िंदगी पूरे इत्मीनान के रंग में सराबोर थी. न कोई हुल्लड़ न शोर. लड़के-लड़कियां एकसाथ, मगर सहज. सब अपनी धुन में खोये हुए और बाहरी दख़ल से बेख़बर. चार दिन पहले वहीं मुझे एक बूढ़ा आदमी मिला था. ख़ुद को मिस्त्री बताते हुए उसने सारा काम करा देने का भरोसा दिया और मुझसे एडवांस के बतौर बीस रुपये ले लिये. उस आदमी की खोज में भटकते हुए मैं समझ गया कि मैंने ऐसे पियक्कड़ को पैसे दिये हैं जो काम करने-कराने का ज़बानी ज़िम्मा ले कर अनपे पीने का जोगाड़ बिठाता है. इसी पूछताछ के सिलसिले में मैं पहली बार अप्पू से मिला था.

आइए सर, यहां मेरे सामने बैठ जाइए. यह अप्पू का घर है. बोलिए, क्या पीयेंगे आप? शौक या लत, जो भी हो, बेहिचक बताइयेगा. सरकारी बोतल यहां घर-घर मिलती है. जो यहां नहीं मिलता, वह किसी और टोले से चला आयेगा. इस इलाके की देशज शराब भी आसानी से मिल जायेगी. वह मामूली चूल्हे पर चावल को उबाल कर घरेलू मसालों की मदद से तैयार होती है. उसका नशा बीयर जैसा हल्का होता है. यहां की बोली में उसे हंड़िया कहते हैं. जी हां, आप बेझिझक कहिए. जेब में ज़रूरत भर पैसे हैं ना ! यह सवाल इसलिए कि यक़ीन मानिए, मैं नहीं पीता.

इस बस्ती का रिकॉर्ड है कि इस गली में क़त्ल जैसे अपराध नहीं होते. दूसरी जगहों में होते होंगे. यहां आपकी जेब ख़ाली हो सकती है. बेशी हीरो बनने की कोशिश की तो दो-चार बेमुरव्वत हाथ भी पड़ सकते हैं. यहां ज़्यादा से ज़्यादा यही होता है कि दिलफेंक मिज़ाज के सैलानियों को कोई नक़ली 'दलाल' मिल जाता है. वह मौजमस्ती की सब्ज़बाग़ी गप हांकता है. पीने-पिलाने, खिलाने-मिलाने या लड़की दिखाने के नाम पर. फिर बातों-बातों में अजनबी मेहमान से सौ-पचास झटक कर ग़ायब हो जाता है. हां जी, भूल कर भी ऐसे ग़ायब हो चुके गाइड के बारे में पता-वता करने की ग़लती कोई नहीं करता. अपने को दबंग और होशियार मान कर खोजबीन करने वाले कई नौजवान फालतू लफड़े में पड़ जाते हैं. जी हां, नये लड़कों ने यह नयी शुरुआत कर दी है.

तो उन दिनों, यानी सन ७० के आसपास, इस क़स्बेनुमा शहर की आबोहवा में, चौहद्दी में, मिजाज में डीजल और पेट्रोल का धुआं-शोर बढ़ने लगा था. पुरानी लीक पर चल रही सहज ज़िंदगी जी रहे लोगों में नयी बेचैनियां जगह बनाने लगी थीं. बाहरी पांवों की हलचल से हिल स्टेशन का क़स्बाई मन बदल चुका था. अब यह दूसरी नयी शुरुआत थी. सच है कि उस ज़लज़ले में बहुत कुछ डूबा, बहा और टूट-फूट कर बर्बाद हुआ. दरअसल यह एक संगीन तबाही की कहानी है जो हमें थोड़े समय के लिए भटकाव के बियाबान में जीने की नियति सौंप गयी थी. सच पूछिए तो यह अप्पू, जॉन, सरोज, बुंची, जसिन्ता, सहोदरी, पतरस और करियो मुंडा की निजी दास्तान है भी नहीं. ये सब तो उस दौर के चंद नुमाइंदा चेहरे और नाम भर हैं. उन दिनों इन जैसी अनगिनत आंखों में कुछ सपने तिरे थे. फिर जैसे-जैसे नींद का ख़ुमार टूटता गया, लोग समझते गये कि यह बहरी व्यवस्था सपने देखने की इज़ाजत तो देती है, उनको ज़मीन पर उतरने के अवसर नहीं देती.

इसी बेडौल कमरे में अप्पू लोहरा रहता था. जिस नयी चटाई पर आप बैठे हैं, वहां एक चौकी हुआ करती थी. हमेशा नंगी, बग़ैर बिस्तर. ख़ास मौक़ों पर, जैसे किसी मेहमान का स्वागत करते हुए, किसी नाराज़ ग्राहक की राज़ी-ख़ुशी बनाये रखने के लिए या गाहेबगाहे गाने-बजाने की बेसुरी महफिल सजने के वक़्त, उस सख़्त तख़्त पर किसी सरकारी अस्पताल से ग़ायब किया गया गहरे लाल रंग का एक कंबल बिस्तरे की शक्ल में बिछा दिया जाता था. वैसे अभी मैं जिसे कमरा बता रहा हूं, वह अप्पू परिवार के लिए एक पूरा मकान था. बेड रूम, ड्राइंग रूम, गेस्ट रूम, बच्चों की स्टडी, आंगन, बरामदा और घर मालिक का दफ़तर - सब कुछ यही था, यहीं था. हां, इसी बड़े खपड़पोश हॉलनुमा कमरे के किनारे वाले हिस्से को अधबनी दीवार के पार्टीशन से छिनगाने की कोशिश की गयी थी. वह आम तौर पर किचन-स्टोर का काम देता था और कभी कभार इमरजेन्सी होने पर खास मेहमानों का आरामगाह भी बन जाता था. तब कुछ समय के लिए उस घर की पूरी गृहस्थी कमरे के किसी कोने में समा जाती थी.

अप्पू लोहरा भारी इंजीनियरी निगम के फाउंड्री फोर्ज प्लांट में मेकैनिक के पद पर काम करता था. कई साल पहले यहां से दस किलोमीटर दूर वह कारख़ाना खुला था. वह अपने ढंग का एशिया में अकेला प्रतिष्ठान कहलाता था. वहां अच्छी पगार थी. अप्पू के शॉप में उसकी कारीगरी की साख भी अच्छी थी. लेकिन बस्ती के बाक़ी मर्दों की तरह उसे भी लगातार पीते रहने की लत थी. हर तरह की जवाबदेही की फ़िक्र से तौबा कर नशे में गर्क़ रहना रगों में बहते ख़ून की तरह उसकी ज़िंदगी का क़ुदरती हिस्सा बन गया

था. मैनेजमेंट की ओर से बारबार मिल रही चेतावनी के बावजूद उसकी ग़ैरहाज़िरी कम नहीं हुई. वह छुट्टी की दरख़्वास्त दिये बिना ही जब तब ग़ायब हो जाता. इस तरह उसकी नामंजूर छुट्टियां बेहिसाब होती गयीं. वह लीव विदाउट पे रहने लगा. उसे कैफ़ियत की नोटिस भेजी गयी. उसने कोई जवाब तक नहीं दिया. तब उसे नौकरी से निकाल दिया गया. उसके बाद भी प्लांट में मिले मेडल दिखला कर वह ख़ुश होता और गर्व से बतलाता था कि उसके शॉप के मेन गेट पर जो डिज़ायन टंगी है, वह उसकी ही बनायी हुई है.

डिस्चार्ज होने के बहुत दिन बाद तक उसे उम्मीद थी कि कंपनी उसे दोबारा बुला लेगी. अपने अच्छे सरोकार के इंजीनियर साहबों से मिल कर वह अपना काग़ज़ बढ़ाने की जुगत लगाता. फिर निराश होकर गली के चखना-दारू वाले धंधे में ख़ुद को झोंक देता. जब उसने पियक्कड़ी का साथ निभाते हुए यह दुनिया छोड़ी थी, उस वक़्त उसका घर ख़ासा बदहाल था. लगभग चालीस की गठे बदन की गोरी ठिंगनी पत्नी, सतरह की उम्र में मां बन चुकी तलाक़शुदा बेटी, जवान हो रही अनब्याही दूसरी लड़की, पेट्रोल पंप की नौकरी में लगा लल्लू छाप शादीशुदा बेटा और दो अदद बारह - चौदह की उम्र के खिलंदड़े बच्चे. यही वह कुनबा था जिसे अप्पू की टूटी छतरी के नीचे वर्षा से, घाम से बचे रहने का भ्रम बना रहता था.

आज इस कमरे की तरतीब मुझे बेहतर ढंग से बदली हुई लग रही है. अभी कई दिन पहले मैं अप्पू की बीवी से मिला था. उसे मैं हमेशा मामी कह कर पुकारता हूं. मैंने टोले का हाल उससे पूछा तो वह बतियाने लगी. अप्पू की मौत के बाद इस घर में उसकी पहचान के लोगों का आना लगभग बंद हो चुका है. वह और छोटी बेटी जूही लोअर वर्द्धमान कंपाउंड के बंगाली परिवारों में महरी का काम करती हैं. चौका-बरतन के काम से गुज़ारा हो जाता है. बड़ा बेटा और बहू अलग रहते हैं. कमरे के सामने वाले हिस्से में बेटे ने परचून की दूकान लगा ली है. बाक़ी हिस्सा उसकी रिहाइश में काम आता है. बहू होशियार है. मायके वाले भी मदद करते हैं. उनके तीन बच्चे हैं. सभी स्कूल जाते हैं. वह बेटियों के साथ पिछवाड़े की खाली जगह में छप्पर डाल कर रहने लगी है. दोनों छोटे बेटे मोटर मेकैनिक का काम सीखते हैं. उसी गैरेज़ में नहाते-खाते भी हैं. पंजाबी सेठ से रात में वहां रहने की छूट उन्हें मिल गयी है.

बड़ी बेटी सरोज का ब्याह अप्पू के प्लांट के एक छपरहिया साथी के बेटे के संग हुआ था. बिहारी रीति-रिवाज का चलन था वहां. परदे के नाम पर दिन-रात आंगन में सिमट कर रहना पड़ता था उसे. उस माहौल में वह नहीं टिक सकी. ससुराल से सिर्फ एक बच्चा गोद में लेकर साल भर के भीतर नीचा कुच्चा लौट आयी. यहां आने के बाद उसका दूल्हा कभी उसकी खोज-ख़बर लेने नहीं आया. वह इंतज़ार करती रही. उस बीच ख़ास ज़रूरत पड़ने पर कभी-कभी वह पड़ोस के कबाड़ी सेठ मुहम्मद अली से सूद पर पैसा ले आती थी. बाद में सेठ ने उसे ही रख लिया. वह उसकी तीन बेटियां जन चुकी है और चौथा बच्चा पेट में है. रोटी कमाने के लिए उसे कोई काम नहीं करना पड़ता. उसका पूरा ख़र्चा कबाड़ी उठाता है.

कठपुतली नाच में माहिर जॉन बरला निठल्ला ही रह गया ज़िंदगी भर. न नौकरी जुटा पाया, न कोई काम-धंधा शुरू किया. बाप-भाई की रसोई में पेट भरने की ज़रूरत पूरी हो जाती. पीने का जोगाड़ बिठाने में किसी मालदार असामी का ख़िदमतगार बन कर चिपक जाना उसकी एक्टिंग का कमाल था. कभी लोहरदगा के राजा कहे जाने वाले साहू सेठ के दरबार तक उसकी पैठ थी. रांची कॉलेज के जलसों में स्टेज पर वह अपना जौहर दिखला चुका था. वही हरफनमौला जॉन अब इस दुनिया में नहीं रहा. एक रात ख़ूब पीकर धुत्त सोया तो अगली सुबह वह नहीं उठा.

बुंची का मरद उसके चालचलन से ख़ुश नहीं रहता था. रोज पी लेने के बाद तरह-तरह के बहाने लगा कर उसे पीटता. पड़ोसी दोनों को समझा-बुझा कर अलग करते. चार साल हुए थे उनके ब्याह के, लेकिन कोई बच्चा नहीं हुआ था. एक रात दोनों में मारपीट पर जबरदस्त कोहराम मचा, दूसरे दिन बुंची अपनी जान-पहचान के एक ट्रक ड्राइवर के संग भाग गयी. वह आदमी बस्ती में पीने की ख़ातिर बराबर आता था. इसी बुंची ने अपने पियक्कड़ पति को थाना - हाजत से छुड़ाने के लिए कितनी भारी मुसीबत मोल ली थी, यह कौन नहीं जानता है! सब जानते हैं कि पुलिस सनहा से पति का नाम हटाने के लिए बतौर रिश्वत उसे ख़ुद पेश होना पड़ा था. वह रात भर किसी ख़ाकी वर्दी वाले के पास रुकी और अगली सुबह पति को छुड़ा कर ही टोले में आयी.

दादा, लगता है, आप ऊब रहे हैं. सोच रहे होंगे कि कैसे आदमी से पाला पड़ गया आज! यह तो कॉमा या फुलस्टॉप जानता ही नहीं. अनजान लोगों के बारे में इतना सारा जान कर भला क्या करना है! तो साहब, लीजिए, मैं इस कहानी को यहीं मोड़ देता हूं. अब बस्ती के नामी बॉलीबाल खिलाड़ी पतरस के कारनामों की चर्चा नहीं करूंगा. ज़मीन के बदले सरकारी मुआवज़े की जो रक़म हमें मिलती थी, उसकी चौतरफ़ा हेराफेरी करने वाले साहबों के

बारे में भी आपको कुछ नहीं कहूंगा. यह भी नहीं बतलाऊंगा कि कैसे करियो मुंडा का लंबा-चौड़ा उपजाऊ दोन उसे पिला-खिला कर दलालों ने हथिया लिया. वर्मा मैडम की रईसी का क़िस्सा तो हरगिज़ नहीं सुनाऊंगा. सर, कहानियां तो कई हैं अपने पास. बनर्जी बाबू की लाडली के कोलकाता भागने और घर लौट आने की कहानी भी कम ज़ोरदार नहीं है. लेकिन अभी कुछ नहीं. बाद की बात बाद में. तो भी एक बात कहूं सर? इस इलाक़े में एक ज़माने से टूरिस्ट आते रहे हैं और यहां की हरियाली और औरत मर्द के भोले खुलेपन के गुण गाते रहे हैं. लेकिन बांसुरी और मांदल की थाप पर जो पांव हिरनों की तरह थिरकते हैं, उनके तलवों में कितने कांटे चुभे हैं, यह बात किसी की निगाह में नहीं समाती.

तो उन दिनों शहर की बढ़ती आबादी के साथ बाज़ार का फैलाव तेज़ी से हो रहा था. तब वहां पब्लिक सेक्टर का एक बहुत बड़ा कारख़ाना खुला था. फिर उसकी अनुषंगी इकाइयां खुलती गयीं. कुल मिला कर देखा जाये तो अजनबी आबादी में बेतहाशा बढ़ोतरी हुई. एक तरफ फ़ैशन, महंगाई, यातायात की रेलपेल का माहौल बना तो दूसरी तरफ नयी यूनिवर्सिटी में नये खुलते कॉलेज, सर्कस पंडाल, सिनेमा हॉल और अख़बार यहां के पुराने संस्कारों को नये परदों, रंगों, डिज़ाइनों में ढालने में कामयाब हुए. यह शहर तेज़ बदलाव के हिचकोले खाने लगा था. उस समय तक यहां मुख्य सड़कों के किनारे ऊंचे पेड़ों की क़तार छांह देती थी. आबाद मुहल्लों के बीच जहां-तहां धान खेतों की हरियाली बरकरार थी. फिर देखते-देखते तमाम खुली जगहों में सहज सुलभ शांति को रौंदते हुए सीमेंट-कंकरीट के पहाड़ उठने लगे. आख़िरश अपनी बुनियाद से बेदख़ल छोटे किसानों की सर्वहारा बन चुकी कौम को रेजा-कुली की जमात में ढलते देर नहीं लगी.

उन दिनों यहां तरह-तरह के उद्योग धंधे और व्यापार में लगी कंपनियों के दफ़्तर एक के बाद एक खुलते जा रहे थे. नये वास्तुशिल्प की शानदार इमारतें, आलीशान शो रूम, लज़ीज़ मेनू परोसनेवाली रेस्तराएं, मुख्य बाज़ार और ख़ास सड़कों पर मद्रासी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती पकवानों के होटल, चौराहे-चौराहे नमकीन और मिठाइयों की क़तार लगाती दूकानें, चटपटी चाट और पाव-भाजी के ठेले, नयी स्टाइल के फ़ैशन की नुमाइश करते डिपार्टमेंटल स्टोर, फुटपाथों पर रेडीमेड कपडों और हवाई चप्पलों के स्टॉल, फ़ोटो स्टूडियोज के शोकेसों में सजी मॉडल तस्वीरें, शहर की दीवारों पर नयी पुरानी फिल्मों के भड़कीले पोस्टर - ये सब मिल कर कमसिन लड़कों और लड़कियों में अनजानी प्यास और सनसनी पैदा कर रहे थे. टाउन बस सेवा की शुरुआत हुई तो दूर छिटके टोलों और आसपास के गांवों से शहर तक आना-जाना आसान हुआ. सड़क पर तरह - तरह की गाड़ियों का मेला दौड़ने लगा. इस रफ़्तार में साइकिल वाले फुटपाथ पर सिमट गये. इस बेपहचान रौनक़ का लुत्फ़ लेने की ग़रज़ से उन दिनों मुख्य चौराहों-सड़कों पर हर शाम तमाशबीनों की भीड़ जुटती थी.

इस बदलाव से अनजान माहौल में पली-बढ़ी सहोदरी पहाड़ी नदी की तरह अल्हड़ थी. अलमस्त, बात-बात में झरने की तरह खिलखिलाती हुई. गहरे पानीदार चेहरे में छोटी मछलीनुमा आंखें और उन पर सांझ के सुरमई आसमान की तरह सुनहरे केश, जूड़े में बंधे हुए. उम्र यही कोई उन्नीस-बीस बरस रही होगी. उन दिनों टोले में सबसे अधिक चर्चा उसकी होती थी. बस्ती में उसकी उम्र की लड़कियां उसकी क़िस्मत से जलती थीं. छोटी लड़कियां और बड़ी-बूढ़ी औरतें उसे उत्सुकता और उत्साह से घूरतीं. बात सिर्फ यह थी कि सहोदरी को अपनी सूरत और सीरत की अच्छी पूछ मिल रही थी. नीचा कुच्चा से सटे मुहल्ले में रहती थी मिसेज वर्मा. फ़ैशन मॉडल की तरह सजधज कर हर शाम वह मेन रोड की सैर पर निकलती. कई पैसेवाले रईस उसके घर बराबर आते थे. सहोदरी कुछ दिन उसकी सेवा में रही. उस माहौल में उसे बहुत कुछ देखने-सीखने को मिला. वहां आने-जाने वाले एक बंगाली बिजनेसमैन से उसकी दोस्ती हो गयी. एक दिन बस्ती में अफवाह उड़ी कि सहोदरी भाग गयी है. लेकिन जल्द ही यह राज खुला कि उस बैचलर आदमी को वह पसंद आ गयी तो वह कांके रोड में उसके साथ रहने लगी है.

हफ़्ते-पखवारे में एक बार वह नीचा कुच्चा में आती तो उसका स्टैंडर्ड देख कर बस्तीवालों की आंखों में ईर्ष्या, उत्सुकता और इज्जत का मिलाजुला भाव दिखता. अच्छी साड़ियां, नये गहने, फैशन के सामान, मेकअप की रंगबिरंगी चीज़ें, रुपये-पैसे - सब थे उसके पास. सहोदरी सहेलियों पर ख़ूब खर्च करती थी. चाट-पकौड़े, ताश जुआ, मटका और बोतल से उसका मन कभी नहीं भरता. लौटने लगती तो बूढ़ी मां के हाथ में दस-बीस ज़रूर थमा देती. कभी कभार अप्पू, जॉन या टोले के दूसरे दादाओं को पौआ-अद्धा के लिए हाथ ख़र्च भी दे देती. इस तरह समूचे टोले पर उसके ग्लैमर का रूआब तारी था. टोले में सहेलियों के बीच मस्ती की फुलझड़ियां बिखेर कर, कुछ घंटे बाद वह अपने आदमी के पास बड़े लोगों के इलाक़े में लौट जाती. वहां वह कैसे रहती है, क्या करती है. इन सब बातों से बस्तीवालों को कोई मतलब नहीं

था. कुछ भी करती हो, टोले की लड़की सुखी तो है न!

मगर आप यह मत सोच लीजिए कि सहोदरी चालू क़िस्म की लड़की थी. वह देह का सौदा करनेवाली लड़की हरगिज नहीं थी. सबको पता था कि एक दफ़ा बस्ती में दलाल किस्म के आदमी ने उसे किसी पैसेवाले सेठ का लालच दिया तो उसने हंगामा खड़ा कर दिया था. तब से इलाक़े में किसी दलाल या मनचले आदमी की हिम्मत नहीं पड़ी कि उसे छेड़कर देखे. ख़ुद को किसी अमीर की घरवाली से कम नहीं समझती थी सहोदरी. वह टोले के तालाब के किनारे जुआ खेलते लड़कों के साथ बाज़ी लगाती थी, दारू पीती थी, सबसे हंसी-मज़ाक़ करती थी. सैर-सपाटा, पिकनिक, फ़ैशन, होटलबाजी, फ़ोटोग्राफी और फ़िल्म की दीवानी थी वह, अपनी उम्र के दूसरे युवाओं की तरह. लेकिन इससे बेशी कुछ नहीं. उस दौर का यही रंग था सब तरफ. इससे आगे निकलने के दलदली चक्कर में जसिन्ता बेमौत मर गयी. सीधी लड़की थी वह. पता नहीं कैसे उसकी दोस्ती उदय मुंशी की चालू क़िस्म की रखैल औरत से हो गयी. वही उसको जाने कहां-कहां काम पर भेजती रहती थी. फिर सुना, बनर्जी ठेकेदार उसे कोलकाता ले गया. वहीं से ख़बर आयी कि बीमार हो कर मर गयी बिचारी.

साहेब, वह दौर ऐसा था जब सिफारिश और लेन-देन की बेपहचानी रवायत से यहां के आदमी का वास्ता पड़ा. नयी कॉलोनियां बसीं तो उनके साथ प्रॉपर्टी डीलरों, स्थानीय दलालों, आढ़तियों, कालाबाज़ारियों, गुंडों और सफेदपोश लुटेरों की दख़लदांज़ी भी बढ़ी. इन सबके बीच घिरे अवाम को सरकारी छतरी देने के नाम पर आयुक्त उपायुक्त कार्यालयों, ज़िला प्रशासन के अनगिनत विभागों के दफ़्तरों और विकास केंद्रों में कर्मचारियों और फ़ाइलों की तायदाद बढ़ती गयी. कर्मचारी संघों, लेबर यूनियनों, मिल मालिकों, इंजीनियरों, डॉक्टरों, प्रोफेसरों, वकीलों के भेष में तरह-तरह के ख़ुराफाती ख़यालों की आमद होने लगी. क़स्बाई देह-मन का यह इलाका धीरे-धीरे सियासी नेताओं, अफसरों, धन्नासेठों, ठेकेदारों, बिचौलियों का सैरगाह बनता गया.

यहां के उदार समाज और खुले माहौल में पली-बढ़ी लड़कियों को छिछले लोगों से निबटना ख़ासा मुश्किल काम होता था शुरू में. साहेब, मैं ऐसी कई लड़कियों को निजी तौर पर जानता हूं जो पराये लोगों की बेहूदा हरकतों से बेहद परेशान हुईं. रोजलिन तिर्की ग्रैजुएट होकर एक केंद्रीय प्रतिष्ठान में नौकरी पर लग गयी थी. दफ़्तर में बाहरी स्टाफ के फूहड़ कमेन्ट्स सुन-सुन कर वह तनावग्रस्त हो जाती. वे सब शायद ऐसे इलाक़ों से आये हुए लोग थे जहां औरतें बुर्क़े में बंद रहती थीं या उनके लिए घूंघट उठाकर ड्योढ़ी से बाहर झांकना तक गुनाह था. अपने ग्रुप सेक्सन के दस पुरुष सहकर्मियों के बीच वह अकेली लड़की थी. सेक्शन अफसर के सामने वे सब शालीन बने रहते, मगर उसके चले जाने पर उन सबका मुखोटा उतर जाता. ज़रूरी फाइलें निबटाने के बाद उनका बचा हुआ दिन कोड वर्ड की कूटभाषा में हंसी-मजाक व चुहल करते बीतता. एक दिन खीज कर उसने वह नौकरी छोड़ दी. बहुत दिन बाद मिशन के एक नामी स्कूल में उसे टीचर की नियुक्ति मिली.

एक और वाक्या तो ख़ासा ट्रैजिक रहा. एम ए के आख़िरी साल में पहुंच चुकी प्यारी खेस वाकई बहुत प्यारी लड़की थी. सीधी, मधुरभाषी, मेहनती और ज़हीन. सबको उम्मीद थी कि वह अपने बैच में टॉप करने जा रही है. एक दिन वह अपने सबसे आदरणीय शिक्षक से गेस और गाइडेंस लेने उनके घर गयी. गुरूजी उसे 'कामायनी' के 'काम' सर्ग का मर्म ब्यौरे से समझाते रहे. उसके बाद नाश्ता-चाय की बारी आयी तो प्रोफेसर साहब अपने हाथ से अनुराग रस में पगे रसगुल्ले उसे खिलाने लगे. वह उनके उग्र सद्भाव से आतंकित हो कर वहां से तुरंत भाग निकली. उन दिनों यूनिवर्सिटी कैंपस के हर विभाग में कोई न कोई क़िस्सा हर वक़्त कानोंकान घूमता रहता. रेडियो प्रोग्राम और मंचीय प्रस्तुतियों का ग्लैमर भी युवाओं के बीच क्रेज बन रहा था. हर सभा-संगत में गंगा-दामोदर का कोरस लोकप्रिय होता नजर आता. यह प्रेम प्रवाह जब शहर के होटलों और पिकनिक स्थलों तक जा पहुंचा, तब कई रंगीन वारदातें खूब चर्चा में रहीं. राहत देने वाली बात यह थी कि पहाड़ की लड़कियों और मैदानी इलाक़ों से आये मर्दों के कई ख़ुशहाल जोड़े नज़ीर के बतौर सबके सामने मौजूद थे.

अप्पू की बीवी यानी अपनी मुंहबोली मामी से नीचा कुच्चा के लोगों की पस्ती का हाल तो मुझे मिलता रहा हमेशा. लेकिन मैं जिस उदास अंधेरे के बीच आपको ले जाना चाहता हूं, वह किसी एक बस्ती, एक टोले या गली में सिमटा नहीं रहा. बल्कि वह तो पूरे क़स्बे और सूबे की सरहद पर क़हर ढाता रहा. उस गिरगिटी दौर में समय की टेढ़ी चाल ने उस पीढ़ी के मानस को कितने ज़ख़्म दिये. उसकी सहजता के साथ कितनी छोड़छाड़ की, क्या वह सब जानना नहीं चाहेंगे आप?

सर, यह तो आप भी जान चुके कि अप्पू, जॉन और जसिन्ता जैसे लोगों की दास्तान में अब नये सफे नहीं जोड़े जा सकते. अभागी बुंची की नियति यह हुई कि उसे भगा कर ले जाने वाला ट्रक ड्राइवर उसे छोड़कर खुद भाग गया. निचोड़ दी गयी गुठली

की तरह बुंची टोले में वापस हुई. उसे पति से घुटना समझौता करना पड़ा कि मेहनत-मज़दूरी करके वह घर चलायेगी और मर्द सिर्फ अपने पीने-खाने का खर्चा उठायेगा. सहोदरी का प्रेमी भी अचानक शहर छोड़ कर चला गया था. वह सिर नीचा कर नीचा कुच्चा लौट आयी. टोले के लोग आपस में कहते थे, उस आदमी ने परदेस में रहते हुए घर जैसा सुख पाने के लिए उसे रखैल बना लिया था. उस समय वह ग्लैमर की चकाचौंध में अंधी नहीं होती तो आज उसका अपना घरबार होता. ज़िंदगी में सुख और शांति रहती. अब उससे कौन ब्याह करेगा. ख़ुद वह कुछ नहीं बोलती.

साहेब, आपको जरूर पता होगा कि उन दिनों इस इलाक़े में नयी बहाली ख़ूब हो रही थी. सरकारी दफ़्तरों में कम, कल-कारख़ानों में ज़्यादा. स्कूल कॉलेज से निकली लड़कियां अस्पतालों और स्कूलों में खप रही थीं. पॉलिटेकनिक पास लड़के तकनीकी नौकरियों में समा रहे थे. कम पढ़े-लिखे लोग सरकारी दफ़्तरों में ग्रेड चार बन जा रहे थे. मेहनत करने वालों के पास गैंता - कुदाल और झुरी की टेक थी. गंवई बच्चे साहबों के घर मेम साब की सेवा में बरसों टिके रहते कि किसी दिन मालिक उनके काम से ख़ुश हो कर सरकारी नौकरी में रखवा देंगे. आज भी टोले की अनपढ़ औरतें दीगर घरों के काम सम्हालती हैं. लड़कियां नयी बन रही इमारतों में, बाज़ार की मंडियों में, ईंट-बालू ढोती ट्रकों में रोकाड़ी कमाती हैं. मर्द ठेला और रिक्शा चलाते हैं, फेरी लगाते हैं, राजमिस्त्री के साथ नये मकानों और पुरानी गद्दियों में मज़दूरी करते हैं.

लेकिन एक सच ऐसा भी है जिसे लाख जतन से छुपा कर रखने की कोशिशें हुईं, तो भी वह जेठ के सूरज की तरह सबसे ऊपर चमकता रहा. सरकारी मेज़ कुर्सियों पर दूर-दराज़ से आये मेहमान बैठते गये. यहां के लोगों के पास से खेत-खलिहानों की धरती धीरे-धीरे खिसकती गयी, कई किस्तों में. कभी इस नाम पर, कभी उस मक़ाम पर. दाम या मुआवजे की नकदी रक़म को सम्हाल कर रखने का गुर किसी असामी के पास नहीं दिखा. अपनी जड़ों से उखड़े हुए लोग दर-दर की ठोकरें खाने पर कितना मजबूर हुए. यह आपको कैसे बताऊं! सरकारी दफ़्तरों में पुनर्वास प्रसंग ज्वार-भाटे का खेल बन गया था. एक लहर बंजारों के लिए पैसा खींच कर लाती थी तो दूसरी लहर उसे ठगों के बाज़ार में बहा ले जाती. इस बेमिसाल तबाही के मंज़र से ख़ुशहाल हुए कुछ ऐसे लोग जो सरकार और असामी के बीच की पुख़्ता कड़ी बने. चौकीदारों के इस चक्कर में जो लोग पिसे, घिसे, बंजारा बन गये. उनके लिए इत्मीनान से जीने का इंतज़ाम आज तक नहीं हुआ. इनमें से बहुतों को याद हैं क़स्बे में क़हर के वे दिन.

साहेब, उथलपुथल के उस वक़्त की अनगिनत कहानियां लोगों की धड़कनों में ज़िंदा दफ़न हैं अब तलक. मैंने तो इस बंद पिरामिड की बाहरी झलकियां रखी हैं आपके सामने.

प्रतिमान प्रकाशन, किशोरगंज, हरमू पथ,
रांची-८३४००१ (झारखंड)
फोन - ०६५१-२३११८६०

लघुकथा

टूटते सपनों का दुःख

नरेंद्र कौर छाबड़ा

हरीश बाबू की अचानक मौत से घर में हाहाकार मचा था. पत्नी, बच्चे बिलख-बिलखकर रो रहे थे, 'हाय बापू यूं अचानक हमें छोड़कर क्यों चले गये. हमें कौन पढ़ाये-लिखायेगा, कौन नौकरी पर लगवायेगा? क्या करेंगे हम ? कैसे चलेगी जीवन नैया?'

अचानक प्रलाप करते बड़े बेटे को याद आया, बापू लॉटरी के टिकट ख़रीदता रहता है. छोटे-मोटे इनाम खुलते भी रहते हैं. किसी ज्योतिषी ने उन्हें बताया था कि आज खुलनेवाली लॉटरी में उनका भाग्योदय होने का योग है. उसने मां तथा दूसरे भाई बहनों से इस बात का जिक्र किया तो सभी पलभर के लिए शांत हो गये.

फिर वह धीरे से उठा और पिता के मृत शरीर के समीप पहुंचा. चादर उठायी और सावधानी से उनकी शर्ट, पतलून की जेबों में टटोलकर मुड़े-तुड़े लॉटरी के टिकट बाहर निकाले. हां, इनका परिणाम आज ही तो आना है, कुछ ही देर पहले अख़बारवाले ने जब अख़बार फेंका था तो कोई उठाने भी नहीं गया था. अब छोटे भाई ने लपककर अख़बार उठाया, लॉटरी परिणाम वाला पेज़ खोला.

सारा परिवार टकटकी बांधे, सांस रोके, नंबर मिलाते बेटे को देख रहा था. बेटे ने मायूसी से कहा- 'कोई भी नंबर नहीं खुला' और टिकटों को फाड़कर फेंक दिया. अगले ही क्षण पूरा परिवार फिर से रोने पीटने लगा था और इस बार केवल हरीश बाबू की मौत ही उनके रूदन का कारण नहीं थी बल्कि लॉटरी खुलने के सुनहरे स्वप्न का मटियामेट हो जाना भी था.

१८४ सिंधी कॉलोनी, जालना रोड, औरंगाबाद- ४३१००५

कहानी

बंटवारा

उनका दम उखड़ने को हुआ.... सांसें जैसे देह से छलक कर बाहर आ पड़ेंगी. खांसी के दौरे पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था.... किंतु प्राण थे कि कहीं अटक कर बूढ़ी जर्जर देह के भीतर ही उलझे रह जाते. उनकी एकमात्र संतान रघुवीर प्रसाद के दोनों बेटे अपने-अपने बाल-बच्चों के साथ अपनी-अपनी सुख-समृद्धि से भरी-पूरी गृहस्थी भोग रहे हैं. रघुवीर प्रसाद और उसकी पत्नी भी कुछ समय पूर्व एक सड़क दुर्घटना में दुनिया से विदा ले चुके हैं... उनकी समझ में यही नहीं आता कि आख़िर उनकी रवानगी में ही अब देर क्यों?.... न जाने देह की किस कंटीली झाड़ी में उनके प्राण अटके रह जाते हैं! वे छूटना चाहते हैं, लेकिन छोड़ नहीं पाते.

'दादू दू'.....

सहसा किसी ने उन्हें पुकारा तो विचारों के कोहरे से छिटक कर वे अपने आपे में आ गये.

यह चार वर्ष की नन्हीं अवनि थी, उनकी परपौत्री... उनके बड़े पोते की बेटी, जो उन्हें 'दादा जी' के बजाय 'दादू दू' ही कह पाती है. उनके बुझे हुए मन में एक हल्की सी चमक कौंध गयी. नन्हीं अवनि से उन्हें अभी तक लगाव है .... दुनिया की बाक़ी चीज़ों में अब उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी थी.

वे दीवार की तरफ़ मुंह किये लेटे थे. करवट बदलने की कोशिश में केवल गर्दन घुमा पाये- 'ऑनी...' उनसे अवनि का उच्चारण ठीक से ही नहीं पाता. उनकी जुबान में 'ऑनी' जैसा ही कुछ निकल पाता है.

'दादू दू परछाद', अवनि की नन्हीं हथेली में कागज़ के एक टुकड़े में कुछ लिपटा हुआ है.

अवनि उनके लिए प्रसाद लायी है. दादू खोल कर देखते हैं... बरफ़ी का एक टुकड़ा. उनके भीतर से असंख्य नेह रश्मियां बरसने लगती हैं.... आंखों के रास्ते मौन. शब्दों से सांसों के फिर से उखड़ने का ख़तरा था. उनके बेजान होंठों पर मुस्कान की हलकी सी चैतन्यता उभरी जो कुछ पल जस की तस बनी रही. उन्होंने मौन रहते हुए ही हाथ के इशारे से जताया कि मिठाई वही खा ले... वे जानते थे कि नन्हीं ऑनी को मिठाइयों में बरफ़ी ही अधिक पसंद है. लेकिन अवनि ने जैसे पुनः आग्रह किया, 'दादू दू आपके लिए है.... मम्मी के छात मन्निर गयी थी ना ..... परछाद है.... खाने से आपकी खांछी ठीक हो जायेगी.'

दादू आहिस्ता से उठ बैठे. कांपते जर्जर हाथों से उन्होंने नन्हीं अवनि का मन रखने के लिए बरफ़ी का ज़रा सा टुकड़ा अपने मुंह में डाला और बाक़ी उसे लौटाते हुए कमज़ोर स्वर में धीरे से कह पाये- 'ले मेरी बिट्टो रानी, ये तू खा.'

॥ कृष्ण सुकुमार ॥

एक बड़ा सा खुला आंगन बीच में था. ठीक आमने-सामने आंगन के दोनों तरफ एक-एक कमरा .... कमरों के बाहर बरामदे .... बरामदों के भीतर कमरों से सटा एक-एक स्टोर रूम और एक-एक किचन. पूरब की तरफ़ वाले कमरे में छोटा रहता था .... यानी, उनका पोता समीर. शहर के मेन मार्किट में उसकी स्टेशनरी की बड़ी सी दुकान थी. दुकान खूब फल-फूल रही थी. खूब आमदनी थी. एक बेटा था, जो अभी मात्र एक वर्ष का था. जीवन खुशहाल था. कोई कमी न थी.

पश्चिम का कमरा दुमंजिला था, जिसमें बड़ा रहता था, उनका पोता आलोक... शहर के ही एक सरकारी महकमे में क्लर्क. तनख़्वाह ठीक-ठाक थी. ऊपर की भी थोड़ी बहुत कमाई थी. गुज़ारा ठीक-ठाक चल रहा था लेकिन निश्चित तनख़्वाह और अनिश्चित ऊपरी कमाई के साथ महंगाई की मार और दो बेटियों का बोझ.... कभी-कभी बड़े के मन को बोझिल कर डालता था ... अवनि उनमें से छोटी वाली थी.

उत्तर की तरफ़ लैट्रिन और बाथरूम के बगल में एक बैठक थी, जिससे हो कर इस मकान का एक आम रास्ता मुहल्ले की गली की तरफ़ खुलता था. दोनों भाइयों के घर के अपने-अपने अलग रास्ते भी थे और वे दोनों अक्सर उन्हीं से बाहर आते-जाते. बैठक में दो खिड़कियां थीं .... एक आंगन की तरफ़ खुलती थी..... दूसरी गली की तरफ़, जिसके पास लकड़ी का एक पुराना दीवान पड़ा हुआ था. यही उनका बेड था.

'अवनि..... अरी ओ अवनी ऽ!'

मम्मी का खीझ भरा स्वर सुनते ही अवनि दौड़ी आयी.

'कहां थी तू....?'

यह प्रश्न नहीं था.... बल्कि जहां अवनि थी, वहां न होने की हिदायत थी.

'क्या कर रही थी वहां?'

'दादू दू को परछाद देने गयी थी.'

'लेकिन क्यों बेटा...?' पापा का एक सिकुड़ा सा नरम स्वर, अर्थात् कई बार मना किया कि उसे वहां नहीं जाना चाहिए.

नन्हीं अवनि क्या जाने ... बड़ों की दुनिया से अनजान! मासूम!... उसे वहां क्यों नहीं होना चाहिए?

'दादू दू भोत बीमार हैं ना... भगवान का परछाद देने गयी थी ... भगवान उन्हें ठीक कर देंगे ना पापा परछाद से?'

... यही तो नहीं चाहते थे दोनों पति-पत्नी! .... दोनों के भीतर एक और दुविधा चोर बन कर बैठी रहती है....ऊपरवाला भी बच्चों की बहुत जल्द सुनता है.... हे भगवान अवनि की न सुन ले!

दादू का ठीक होना उन्हें ही तो भारी पड़ेगा.

दोनों ने मिलकर समझाना चाहा,'दादू बीमार हैं ना बेटा.... उन्हें तंग नहीं करते. तुम जा कर अपने खिलौनों से खेला करो, जाओ.'

दोनों भाइयों के बीच जायदाद का बंटवारा तो अरसा पहले हो चुका था .... पिता के निधन से भी बहुत पहले. पिता ने अपने जीते-जी अपने हिस्से का मकान बराबर-बराबर दोनों बेटों के नाम कर दिया था. बड़ा चूंकि नौकरी पर था, छोटे को एक दुकान करा दी थी और इसके कारण बड़े के मन में भेदभाव पैदा न हो, इसलिए बड़े के मकान के ऊपर एक कमरा बनवा दिया था..... हालांकि संतुष्ट दोनों में से कोई भी न था. बड़े की आंख में छोटे की दुकान खटकती थी..... छोटे की आंख में बड़े का दुमंजिला. लेकिन छोटे का कारोबार शिखर पर था, अतः उसने मन ही मन बड़े को नीचा दिखाने की नीयत से दुमंजिला बनवाने के बजाय शहर के एक बढ़िया इलाके में दो सौ वर्गफुट का प्लॉट खरीद डाला.... बड़ा इससे मन ही मन पस्त था.

जब तक पिता जीवित रहे, दोनों पिता की पेंशन पर अटके रहे. पर अब? ... पिता की दुर्घटना में मौत हो जाने के बाद दोनों के बीच एक हड्डी अटक कर रह गयी थी- दादाजी! .... छोटे का तर्क था कि घर का 'बड़ा' होने के नाते यह बड़े भाई का फ़र्ज़ था कि दादाजी को निभाये. बड़े का तर्क था कि छोटे का कारोबार

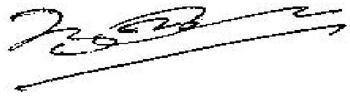

१५ अक्तूबर १९५४; विज्ञान स्नातक

प्रकाशन : हिंदी की २० से अधिक पत्र-पत्रिकाओं में ४० से अधिक कहानियां तथा ७० से अधिक पत्र-पत्रिकाओं में असंख्य ग़ज़लें/कविताएं प्रकाशित.

प्रकाशित पुस्तकें : इतिसिद्धम् (उपन्यास), पानी की पगडंडी (ग़ज़ल-संग्रह), हम दोपाये हैं (उपन्यास), सूखे तालाब की मछलियां (कहानी-संग्रह), आकाश मेरा भी (उपन्यास), उजले रंग मैले रंग (कहानी-संग्रह), देश के विभिन्न प्रदेशों से प्रकाशित २० संकलनों में कहानियां, कविताएं एवं ग़ज़लें संकलित.

पुरस्कार/सम्मान : उपन्यास 'इतिसिद्धम्' की पांडुलिपि पर वाणी प्रकाशन द्वारा 'प्रेम चंद महेश' सम्मान (१९८७) तथा पांडुलिपि-प्रकाशन, उत्तर प्रदेश अमन कमेटी, हरिद्वार द्वारा 'सृजन सम्मान'- १९९४, साहित्यिक संस्था 'समन्वय', सहारनपुर द्वारा 'सृजन सम्मान'(१९९४), मध्य प्रदेश पत्र लेखक मंच, 'बैतूल द्वारा काव्य कर्ण सम्मान' (२०००), साहित्यिक संस्था 'समन्वय', सहारनपुर द्वारा 'सृजन सम्मान' (२००६).

संप्रति : भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, रुड़की में कार्यरत.

और आमदनी चूंकि उसकी तनख़्वाह से कई गुनी ज़्यादा है, अतः यह उसका फ़र्ज़ बनता है.

छोटे का आरोप था कि बड़े को उसकी आमदनी और कारोबार पर ऐसी कुदृष्टि नहीं रखनी चाहिए..... यह कोई हराम का माल नहीं जो मुफ़्त में उसे मिल गया हो..... उसकी मेहनत और रात-दिन की भागादौड़ी का फल है .... बड़े का आरोप था कि यह सब उसके प्रति पिता द्वारा किया गया अन्याय था... कि

छोटे के लिए रुपया लगा कर बढ़िया कारोबार सेट कर दिया और उसे एक छोटी सी दुमंजिली बनवाकर बहला दिया गया.

छोटे ने स्पष्ट किया - इसमें मेरा दोष कहां है?

बड़ा झुंझला कर रह गया- 'यह बंटवारा ही ग़लत हुआ.'

'बंटवारा' शब्द पर अचानक छोटे की बुद्धि क्रियाशील हो गयी.... ज़ायदाद का बंटवारा अगर हो सकता है तो 'दादाजी' का क्यों नहीं....?

तय पाया गया कि एक माह तक दादाजी का ज़िम्मा छोटा लेगा और एक माह बड़ा ..... और इसी तरह एक के बाद एक चलता रहेगा.

दोनों में परस्पर सहमति हालांकि एक दुर्लभ उपलब्धि थी किंतु जब कभी ऐसा घटित हो जाता तो दोनों भाइयों के बीच का तात्कालिक मेलजोल किसी भी तीसरे को 'इमोशनल' बनाने के लिए काफ़ी होता. ... दोनों का दिल इस फ़ैसले पर वाह-वाह कर उठा .... दोनों ने पहले गर्मजोशी से हाथ मिलाये.... फिर एक दूसरे को बांहों में भर लिया..... दोनों को थोड़ी देर पहले की आपसी चखचख बहुत वाहियात और मनहूस लग रही थी.

.... कि सहसा बड़े ने झटक कर छोटे को अलग कर दिया!

सवाल था.... पहल किसकी?

छोटे का सरल सा जवाब ...... जो बड़ा है, उसकी.

वाहियात और फ़ालतू महसूस की जा रही चखचख दोनों को फिर से सार्थक प्रतीत होने लगी. बड़े का तर्क था, चूंकि यह सुझाव सबसे पहले छोटे के दिमाग में आया, अतः उसे ही पहल करके दिखानी चाहिए....

इस पर छोटे ने अपना फैसला भरा तर्क पेश किया..... कल जनवरी की पंद्रह तारीख़ है .... बड़ा पंद्रह से इकत्तीस जनवरी तक पहल करे..... फिर एक से अट्ठाइस फरवरी तक उसका ज़िम्मा..... आगे इसी तरह चलता रहेगा.

बड़े को यह सुझाव इस कदर जंच गया कि उसे भीतर ही भीतर अपने आप पर शर्मिंदगी महसूस होने लगी.... कि आख़िर क्यों उसे अपने छोटे भाई पर भरोसा न हुआ.

लेकिन यहां छोटे की एक चालाक़ी काम कर रही थी, जिससे बड़ा एकदम अनजान था....

दादाजी का इलाज चल रहा था. सर्दी पूरे ज़ोरों पर थी.... और ठंड के दिनों में उनकी खांसी ज़ोर पकड़ लेती थी. आगामी पंद्रह दिन भरपूर ठंड के दिन थे ..... दवाइयों का ख़र्च बराबर बना रहेगा. फिर, फरवरी आते न आते ठंडक और खांसी का जोर भी कम पड़ता जायेगा .... और फिर, उसका यह भी अनुमान था कि कौन जाने अधिक जियें भी कि न जियें..... डॉक्टर ने भी यही आशंका जतायी थी कि ये सर्दियां शायद ही पार कर सकें.

लेकिन..... ऐसा हुआ नहीं.

उन सर्दियों का तमाम सफ़र दादाजी पूरी तरह अपने ख़राब स्वास्थ्य के चलते भी सफलतापूर्वक पार कर गये थे.

दोनों ही पक्ष एक अदृश्य चक्रव्यूह में फंसा महसूस कर रहे थे.

एक भय दोनों तरफ समान रूप से व्याप्त था ..... कहीं दादाजी की ज़िंदगी का सफ़र उनकी पारी में ही आ कर ख़त्म न हो! .... वरना ऐसा होने पर पूर्व निश्चित था कि उनकी मृत्यु पर होनेवाला सारा खर्च भी उसी को वहन करना होगा.

उनमें से प्रत्येक कामना करता कि दादाजी तभी दुनिया से कूच कर जायें जब वे दूसरे की पारी में हों. मुश्किल यह कि अगर उनकी दवा-दारू में कोताही बरती तो अपने ही ज़िम्मे उनके प्रस्थान का डर....

लेकिन माह का अंत आते-आते दादाजी के इलाज के प्रति लापरवाही बरती जाने लगती, ताकि दादाजी दूसरे के हिस्से में जाते ही वे कूच कर जायें और तमाम ख़र्च उसी पर आन पड़े! इसीलिए हरेक पक्ष पहली तारीख़ आते ही दादाजी के इलाज के प्रति पूरी तरह सचेत हो जाता.... कहीं इलाज में कोई कोर-कसर न रह जाये.

लेकिन कंबख़्त दुर्योग और दुर्भाग्य कुछ ऐसा रहा कि जब भी बड़े के हिस्से में दादाजी होते तब ही उनकी स्थिति बिगड़ जाती.

पति-पत्नी दोनों छोटे के नसीब पर हैरान थे. छोटे का नसीब पूरी तरह उसके 'फेवर' में चल रहा था.... उसका बिजनेस भी ख़ूब चल रहा था .... लड़की का बोझ भी नहीं, सिर्फ एक बेटा ही था .... घर में किसी चीज़ की कमी नहीं. कमी तो उनके अपने घर में भी किसी चीज़ की नहीं .... टी.वी., फ्रिज, स्कूटर, वाशिंग मशीन, म्यूजिक सिस्टम, डीवीडी प्लेयर, कंप्यूटर.... सब कुछ था. हां, मुश्किल यह ज़रूर है कि बाज़ार में कोई भी नये मॉडल की चीज़ आ जाती, तो छोटा तुरंत पुरानी की जगह नयी उठा लाता.... जबकि उसकी हैसियत इतनी थी नहीं ..... जो चीज़ एक बार ली गयी, वो ली गयी.... कुछ चीज़ें उसे सैकिंड हैंड भी लेनी पड़ीं जैसे स्कूटर.... अपने परिवार की नज़र में यहां उसे नीचा देखना पड़ता, जिसका एहसास हरदम उसे उसकी पत्नी

द्वारा कराया जाता रहता. कब से पुराने स्कूटर कीजगह एक नयी बाइक लेने का मन है....पत्नी को पुराने फटीचर स्कूटर पर बैठते कितनी शर्म आती है..... फिर, अब कोई स्कूटर का ज़माना रह गया है?.... बाज़ार में बाइक के एक से एक मॉडल आ रहे हैं.... छोटा हर साल मॉडल बदल लाता है.... और यहां इन दादाजी के बेकार के ख़र्चों से ही पीछा नहीं छूट पा रहा.

यूं परेशान तो छोटा भी था.... उसे भी लगता, दादाजी की उम्र तो पूरी ही हो गयी..... सब जी-भोग लिया....सांसें भी तंग हो चलीं..... तो बेकार का ख़र्चा करा रहे हैं ..... डॉक्टर की भी आशंका है कि ज़्यादा न जी पायेंगे.... फिर पता नहीं क्यों इनके प्राण किस मोह में अटके पड़े हैं.

दोनों भाई शाम को घर लौटने पर सबसे पहले अपनी-अपनी पत्नियों से दादाजी का 'हाल' पूछते और 'बेहाल' सुनने को उतावले रहते.... लेकिन निराशा ही उनका स्वागत करती मिलती. हर सुबह घर से काम पर निकलते वक़्त उन्हें उम्मीद रहती कि देखें आज शाम तक नसीब क्या मोड़ लाता है.... लेकिन दादाजी की उखड़ी सांसें वहीं की वहीं अटकी मिलतीं.

एक रोज़ बैठे-ठाले, बड़े के मन को अचानक एक आशंका ने आ घेरा .... कहीं दादाजी के प्राण अवनि के मोह में न अटके हों....

पत्नी ने भी हामी भरी ..... अवनि का उनसे गहरा लगाव है .... मना करने के बावजूद हर रोज़ उन्हें प्रसाद भी देकर आती है.... कहती है दादू दू बीमार हैं, परसाद से ठीक हो जायेंगे.

पति-पत्नी दोनों का दृढ़ विश्वास था कि ऊपरवाला बड़ों की सुने न सुने, बच्चों की ज़रूर सुनता है, क्योंकि बच्चे सच्चे दिल से प्रार्थना करते हैं.....

बड़े ने यही बात छोटे के कान में डाल दी.

छोटे ने अपनी पत्नी के साथ मिलकर इस पर गहरा सोच-विचार किया और तय पाया कि उन सभी को मिलकर कुछ करना चाहिए.

छोटे की पत्नी ने सुझाया कि अवनि को समझाया जाये कि वह दादू को परसाद न दिया करे वरना ये और बीमार पड़ जायेंगे.

बड़े की पत्नी ने इसकी काट की..... भला यह भी कोई बात हुई..... परसाद रोक देने से क्या होता है ..... असल बात तो बच्ची की भावना की है .... भगवान तो भावना के भूखे होते हैं.

बड़े ने अपनी पत्नी के इतने सुंदर विचारों से मुग्ध होकर तुरंत समर्थन किया.... जिस पर छोटे को, अपनी पत्नी की बात की बड़े की पत्नी द्वारा की गयी काट चुभी, लेकिन भीतर-भीतर पी गया.

अगला सुझाव छोटे का ही था.... कि दादाजी के मन में कुछ ऐसी बात बैठा दी जाये कि अवनि उनकी उपेक्षा करती है.... जिस पर छोटे की पत्नी पुलकित हुई.

लेकिन बड़े की पत्नी ने सुझाव को तुरंत उलट डाला.... कि उपेक्षा दादाजी के मन में नहीं, अवनि के मन में पैदा की जाये....

बात छोटे की जंच तो गयी, लेकिन उसे खीझ इस बात पर हुई कि मूल विचार तो उसका अपना है, जिस पर ज़रा से उलट-फेर के साथ हक़ बन गया बड़े की पत्नी का.

बड़ा अपनी पत्नी की इस सही पकड़ पर इतना मुग्ध था कि उसने इस बात का फिर से पुरज़ोर समर्थन किया. लेकिन छोटा और उसकी पत्नी खुश नहीं दिखे और उस रोज़ की 'मीटिंग' का 'अनहैप्पी एंड' हो गया.

....जद्दोजहद ज़्यादा दिन झेलनी नहीं पड़ी... अगली ही सुबह दादाजी की हालत गंभीर हो गयी.

लेकिन यह छोटे के लिए नहीं, सिर्फ बड़े के लिए ख़ुशी का मौक़ा था .... क्योंकि इस बार दादाजी छोटे के हिस्से में थे. माह का आख़िरी सप्ताह था और बड़े की चिंता का कारण अगर था तो बस यही था कि दादाजी किसी भी तरह सप्ताह भर का समय खींच न लें.

छोटे ने तत्काल डॉक्टर बुलाया. चेकअप करके डॉक्टर ने दवाएं लिख दीं और साथ ही चेतावनी भी दे डाली कि बस अब ये अब-तब के ही मेहमान हैं, जो सेवा करनी हो कर लें.

यह सुन छोटे के होश उड़ गये.... अभी तो माह ख़त्म होने में कई दिन बाक़ी हैं. छोटा डॉक्टर के सामने गिड़गिड़ाने लगा - 'डाक्साब.... मेरे दादाजी को बचा लो प्लीज!'

'कोशिश करते हैं भाई.... पर कह कुछ नहीं सकते.'

'बस, प्लीज .... इकत्तीस तारीख़ तक बचा लीजिए साब.' छोटे ने बहुत बेसब्री से गिड़गिड़ा कर फिर विनती की.

डॉक्टर कुछ हैरान हुआ - 'इकत्तीस तारीख़ तक .... माने?'

बड़े के मन में लड्डू फूट रहे थे ..... अवसर का फ़ायदा उठाते हुए उसने डॉक्टर को समझाया - 'यह दादाजी के मोह में पगला गया है डास्साब, अब इतनी खराब हालत में कोई कर क्या सकता है .... दादाजी बेचारे कब से बेकार में कष्ट भुगत रहे हैं.... अच्छा तो यही है आज ही मुक्ति पा जायें.'

लघुकथा

मतदाता

✍ डॉ. सुरेंद्र गुप्त

सदन में पूरा दिन धुंआधार कुर्सियां चलती रहीं. सत्ता पक्ष के सदस्य विपक्ष पर आरोप लगा रहे थे कि विपक्ष 'हॉर्स ट्रेडिंग' कर रहा है और उनके सदस्य ख़रीदकर अपनी सरकार बनाना चाहता है. हुआ भी यही, दो दिन बाद विपक्ष ने सत्ता पक्ष के पांच सदस्य ख़रीद लिये और सरकार बना ली. ख़रीदे गये विधानसभा सदस्यों को करोड़ों रुपये तो मिले ही साथ ही मंत्री पद भी मिल गये.

कुछ दिन बाद यही घटना एक अन्य राज्य में घटी. यहां पर वे ही लोग सत्ता में थे जो पहले वाले राज्य में विपक्ष में बैठे थे. सत्ता पक्ष के लोगों को जब अपनी सरकार खिसकती नज़र आयी तो उनका प्रतिनिधि मंडल राष्ट्रपति से मिला तथा ज्ञापन भी सौंपा. किंतु उसके तीसरे दिन वहां की सरकार गिर गयी. वही इतिहास दोहराया गया. यहां भी जिन्होंने अपने को बेचा उनके न्यारे-व्यारे हो गये. इतना पैसा उन्होंने कमा लिया कि पुश्त-दर-पुश्त कमाने की ज़रूरत नहीं. बस राजनीति अब पेशा हो गया. लोकतंत्र में घोड़े खरीदने-बेचने का खेल जारी है. देश में ये लोग कहीं विपक्ष में हैं तो कहीं सत्ता में हैं. मतदाता बेवकूफ सा बना आंखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है, देखता आ रहा है तथा देखता रहेगा.

आर.एन-७, महेश नगर, अंबाला छावनी-१३३००१ (हरियाणा)

इस पर छोटे को बहुत गुस्सा आया. बड़े का तुरंत विरोध करते हुए उसने आक्रोशपूर्वक कहा- 'देखा... देखा डाक्साब, भैया चाहते ही नहीं बुजुर्गों का जीना.... बड़ों की छत्रछाया क्या होती है, ये क्या जानें.'

'आप बेकार में जज़्बाती हो रहे हैं', डॉक्टर ने छोटे के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे समझाने की कोशिश की, 'आपके भाई ठीक ही कहते हैं.... सच तो यही है कि इनके लिए अब जीवित रहना ही कष्टकारी है.'

'अरे डाक्साब.... छह....सात दिन नहीं मरेंगे तो हरज क्या है .... इत्ते दिनों से भी तो कष्ट भुगत ही रहे हैं.' छोटा हताश हो कर लगभग रुंधे से स्वर में बोला.

डॉक्टर उसे बहुत जज़्बाती महसूस कर रहा था..... सांत्वना भरे लहजे में उसे कहना पड़ा- 'जीना-मरना तो ऊपरवाले के हाथ में है भइया.'

इस पर छोटा आपे से लगभग बाहर हो उठा और डॉक्टर पर खीजते हुए चीख़ पड़ा- 'आपके हाथ में नहीं है क्या? .... मैं सब समझता हूं .... आप बड़े भइया से मिले हुए हैं .... ज़रूर आपने इनसे पैसे खाये हैं.'

डॉक्टर हैरान था.

बड़े को अपनी जीत का एहसास हो रहा था .... मन ही मन मुस्कुराते हुए वह डॉक्टर को धीरे से एक तरफ़ ले गया और समझाते हुए कहा-'यह बहुत भावुक है... आप इसकी बात का बुरा न मानिए प्लीज, आप जाइए डास्साब.'

इकत्तीस की रात को जब दादाजी की सांसें बुरी तरह उखड़ने लगीं तो पूरा परिवार इकट्ठा हो गया.... आहिस्ता-आहिस्ता सरकता हुआ समय अपना खेल खेल रहा था ....

दोनों परिवारों की नज़रें दादाजी पर नहीं, दीवार घड़ी पर टिकी थीं.

छोटा और उसकी पत्नी के दिल में समय के तेज़ी से गुज़र जाने की दुआ थी .... बड़ा और उसकी पत्नी जैसे अपनी सांसें थामे, वक़्त को गुज़रते हुए देख रहे थे और उसके थमने की दुआ कर रहे थे.

लेकिन होनी को कौन टाल सकता है?.... ऐसा ही सुनते आये हैं और ऐसा ही होता आया है.... और ऐसा ही हुआ भी!

हुआ यूं कि दादाजी ने अंतिम सांस इकत्तीस तारीख़ की रात को ठीक बारह बज कर एक मिनट पर ली....

अर्थात .... अगले माह की पहली तारीख़ शुरू हो चुकी थी.

अर्थात ..... दादाजी बड़े भइया के हिस्से में आ चुके थे.

अर्थात ..... अपना-अपना नसीब!

उसी समय छोटा फुरती से उठा और तत्परता से मोबाइल पर रिश्तेदारों और परिचितों के नंबर मिलाने में व्यस्त हो गया.

अब वहां मातम तो था... लेकिन केवल बड़े के घर का हिस्सा!

१९३/७, सोलानी कुंज, भा.प्रौ. सं. रुड़की,
रुड़की (उत्तराखंड)२४७६६७
मो.- ९८९७३३६३६९

आमने/सामने

'लिखना ही मेरे होने का अहसास है !'

✍ कृष्ण सुकुमार

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, आमने-सामने. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो.कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ.बटरोही, राजेश जैन, डॉ.अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ.हरिमोहन, डॉ.दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ.अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ.फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ.कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ.गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं.किरण मिश्र, डॉ.तेज सिंह, डॉ.देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ.उर्मिला शिरीष, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रज़ाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ.विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश' और डॉ. शिव ओम 'अंबर' से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है कृष्ण सुकुमार की आत्मरचना.

मेरा मानना है कि कला कोई भी हो, किसी मनुष्य में जन्मजात होती है. इसे किसी में न तो पैदा किया जा सकता है न ही सिखाया जा सकता है. हां, अगर यह किसी में बीज रूप में मौजूद है तो इसे विकसित अवश्य किया जा सकता है. यह कब पुष्पित-पल्लवित हो और कितनी मात्रा में, यह अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर करता है.

अपनी क़लम के इस सफ़र का बयान कहां से शुरू करूं?... बचपन याद आता है.... हर रात सोने से पहले मां से कहानियां सुनकर ही सोया करता!.... कहानियों के पात्र भी अधिकतर होते जंगल के जानवर.... फिर, मां के सुनाने का अंदाज ऐसा नाटकीय होता कि मेरे चारों तरफ़ एक अद्‌भुत लोक रच जाता! एक कहानी सात ग़रीब बहिनों की होती थी, जिसे मैं विशेष आग्रह से सुना करता..... कहानी कोई भी हो, मैं स्वयं को उन पात्रों के बीच ही रमा हुआ पाता.....उनके दुःख मेरे भीतर एक टीस छोड़ जाते... उनकी खुशियों से मेरे अपने रोम-रोम में पुलक महसूस होती... खलनायक मेरी नसों में आक्रोश और भय की सिहरन घोल जाते! सब कुछ 'सच' जान पड़ता.

मेरे क़लम की शुरुआत कविता से ही हुई. मुझे बस इतना याद है कि कविताओं के प्रति मेरा रुझान बचपन से रहा है. उस समय मैं सात-आठ वर्ष का था, शायद १९६२ के भारत-चीन युद्ध के दौरान, जब जन-जन में चीनियों के विरुद्ध आक्रोश था और ''चीनियों को चीनी की तरह घोल कर पी जायेंगे'' जैसी पंक्तियां अब भी याद दिलाती हैं कि ऐसी कविताएं लोग गाते फिरते थे, तब मुझमें भी तुकबंदी का जोश जाग जाता था और तब मैं भी कुछ अनगढ़ तुकबंदियां कर लिया करता था. आज भी उस समय की प्राइमरी कक्षा की पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ी हुई हिंदी कविताएं मुझे अपनी काव्य-रुचि की याद दिलाती हैं, जिनमें से बहुत सी तो अभी तक भी आंशिक रूप से मेरी स्मृति में मौजूद हैं...''लाठी लेकर भालू आया छम-छम-छम, ढोल बजाता मेंढक आया ढम-ढम-ढम...'', ''अम्मा जरा देख तो ऊपर चले आ रहे हैं बादल, गरज रहे हैं बरस रहे हैं दीख रहा है जल ही जल.....'', ''हठ कर बैठा चांद एक दिन माता से यह बोला,सिलवा दे मां मुझे ऊन का मोटा एक झिंगोला....'',''चू पड़ी सहसा निकल कर एक दिन, बादलों की गोद से एक बूंद....'', ''उठो लाल अब आंखें खोलो,

पानी लायी हूं मुंह धोलो.....'', ''पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन....'', ''चूहों की सभा...'' इत्यादि. ऐसी तमाम कविताएं मुझे कल्पना के किसी अजीब लोक में ले जाया करतीं, जहां निर्जीव और स्थूल चीज़ें भी सजीव आकार में तब्दील हो जाया करती थीं! प्राइमरी पाठ्य-पुस्तकों की कहानियां भी उतने ही चाव से पढ़ता था और उनके पात्र भी मेरे भीतर अपनी जगह बना लेते..... एक कहानी एंड्रोक्लीज और शेर वाली तो बचपन से ले कर आज तक मुझे उसी तरह अभिभूत करती है!

जन्म मेरा गांव का ही है....उत्तर प्रदेश के बिजनौर जनपद का एक गांव - बेगराजपुर. लेकिन पिताजी के बाहर नौकरी के कारण गांव मेरे जीवन के बहुत थोड़े-से हिस्से में आ पाया; पांचवी से सातवीं कक्षा तक का वह समय आज भी मेरी यादों में हरा-भरा है...और आज भी मेरी नींदों में अक्सर मेरे ख़्वाब मुझे अपने बचपन के उस गांव की गलियों और मुहल्लों में भटकाते रहते हैं.... लंबा वक़्त निकल गया, गांव जाना ही नहीं हुआ.

पांचवीं तक का एक स्कूल गांव के बीच में स्थित था. घर से स्कूल पहुंचने में पांच-दस मिनट का समय लगता था, लेकिन घरों की छतें स्कूल तक आपस में इस तरह सटी हुई थीं कि कुछ ही पल में छत से स्कूल में झांका जा सकता था. स्कूल की पहली घंटी की आवाज़ सुनते ही हम बच्चे मुलतानी मिट्टी पुती तख्ती और बस्ता उठा दौड़ पड़ते. स्कूल में पहले प्रार्थना होती...'वह शक्ति हमें दो दयानिधे कर्तव्य मार्ग पर डट जायें....' फिर, कच्ची मिट्टी के फ़र्श पर लंबे-लंबे पट्टे बिछाये जाते. क़लम सरकंडे की होती और स्याही की टिक्की को पीस कर या साबुत ही कांच की दवात में पानी और किसी बारीक कपड़े की कत्तर के साथ मिला कर रोशनाई तैयार की जाती. सरकंडे की क़लम की जगह कभी-कभी निब वाला होल्डर भी काम में लाया जाता. तख्ती पोतना रोज़ का काम था, शाम को घर जा कर. रोज़ शाम को छुट्टी से पहले अध्यापक, जिसे हम 'माड़साब' कहते, सभी से पहाड़े सुना करते.... और भूल जाने या याद न होने पर डंडे से, जिसे हम 'कम्मच'/'कमची' या 'रूल' कहते, या कभी-कभी फिटे/स्केल से हथेलियों पर सज़ा भुगतनी पड़ती. पिटाई या सज़ा निर्ममता से होती. यह 'कमची' अक्सर हममें में से ही किसी छात्र से मंगायी जाती, जिसका मज़बूत होना भी ज़रूरी था, वरना जिसके टूट जाने या कमज़ोर होने पर भी पिटाई होती थी. छठी कक्षा में आने पर गांव से तीन-चार मील दूर एक कस्बा नहटौर के इंटर कॉलेज में पैदल चल कर जाना पड़ता, जहां सातवीं तक पढ़ाई करने के बाद पिताजी अपने साथ ही ले आये थे.

गांव में उस समय मेरे बाबा, ताऊ, दो चाचा और उनका परिवार था, और खेती होती थी. कभी जब मूड में होते तो ताऊजी भी रात को कहानियां-क़िस्से सुनाने में रस लेते. वे धीरे-धीरे, डूब कर, लंबे-लंबे क़िस्से सुनाते और हम बच्चे डूब कर सुनते..... बैलगाड़ी का ज़माना था, जिस पर बैठ कर अक्सर मैं खेतों में जाया करता. खेत घर से दूर हुआ करते थे. बैलगाड़ी कभी ख़ाली होती, कभी उस पर गोबर की खाद, जिसे हम 'कूड़ी का खाद' कहते, लदा होता जिसे खेतों में बिखेरने के लिए ले जाया जाता. सर्दियों के मौसम में कभी खेतों से गन्ना लाद कर लाया जाता तो उस पर बैठ कर ही हम घर तक आते. गन्नों की गठ्ठियों के सबसे ऊपर 'गौले', जो गन्ने के ऊपरी सिरे पर स्थित लंबी-लंबी तीखी धारवाली पत्तियों को कहा जाता, रखे जाते जिस पर अक्सर जूट के खाली बोरे बिछा कर बैठने की जगह बना दी जाती थी. शाम को इन्हीं 'गौलों' से सूखी-सूखी पत्तियां अलग कर दी जातीं. फिर, चारा काटने की लोहे की हाथ की मशीन से हरे 'गौलों' की 'कुट्टी' काटी जाती, घरेलू पशुओं का चारा तैयार होता. बिजली उस वक़्त गांव में नहीं थी. और मशीन को दो व्यक्ति चलाते तथा एक व्यक्ति उसमें 'गौलों' को ठूंसता और ठेलता रहता. पशुओं के इस चारे को 'गौत' या 'सानी' कहते थे. गन्ने की सूखी पत्तियां छान या छप्पर बनाने में काम आतीं. छप्पर एक साथ कई लोग मिल कर तैयार करते और मिल कर ही उठाकर लगाते. घर से बैठक, जिसे 'घेर' कहा जाता, दूर होती थी. घर प्रायः गांव के भीतरी हिस्से में और घेर बाहरी हिस्से में होते. घेर में उस समय नीम का एक बहुत बड़ा दरख़्त था, जिसके नीचे गर्मियों भरी दोपहर में खाट डाले पड़े रहते. खाट बान या रस्सी की होती. बान 'मूंज' के पौधों से तथा रस्सी 'सन' के पौधों से बनायी जाती, जिसे 'रस्सी बंटना' कहा जाता. सन के पौधों को पानी भरे तालाब में, जिसे 'जोहड़ या जोहड़ा' कहा जाता, डुबो देते और गल-सड़ जाने पर उसकी टहनियों का छिलका उतार कर सुखा लिया जाता. इसे ही सन कहा जाता है. याद आने पर गली-सड़ी सन की वह गंध अभी भी मेरे नासारंध्रों में अपनी उपस्थिति की अनुभूति करा देती है. ताऊजी रस्सी बंटते और फिर खाट भी. रस्सी सिर्फ़ खाट या चारपाई के लिए ही नहीं, दूसरे कामों के लिए भी बुनी जाती....उनके मोटे-पतले आकार उसी के मुताबिक होते.

घर के बड़े हुक्का पीते थे... और अक्सर सुलगता हुक्का छोड़ सभी बड़े खेतों पर चले जाते, तब हम बच्चे उस हुक्के में दम

मारते. और कभी घर के बड़ों से छुपा कर, जब तालाब में कमल खिले होते तो उन्हें नाल समेत निकाल लाते फिर उनकी पत्तियों के बीच चुराया हुआ तमाखू भर कर सुलगती हुई अंगारी रख कर कमल की नाल में दम मारते और हुक्के का आनंद लेते. लुका-छुपी, गिल्ली-डंडा, गोली-कंचे और कबड्डी खूब खेला करते ....

समय-समय पर पिताजी के स्थानांतरण के कारण मेरी पढ़ाई कभी भी टिक कर एक जगह नहीं हो सकी. उस वक़्त कक्षा एक से पढ़ाई शुरू हुआ करती थी, नर्सरी वगैरह नहीं. हम पिताजी के साथ बुलंदशहर में रह रहे थे, जहां मेरा पहला दाख़िला हुआ था ... मुझे याद आ रहा है ..... पिताजी मुझे दाख़िला दिला कर स्कूल छोड़ आये ..... और मैंने 'मास्टरजी' से टॉयलेट जाने का बहाना बनाया ..... और चालाकी से यह भी पूछ लिया कि बस्ता साथ ले जाऊं? 'मास्टरजी' ने हामी भरी और मैं बस्ता उठा कर घर के लिए छूमंतर ! बाज़ार का काम निबटाकर थोड़ी देर में पिताजी ने घर लौट मां को मेरे दाख़िले की शुभ सूचना दी ...... इधर मैं घर के एक कमरे में छुपा बैठा था ! ... इसके बाद बुलंदशहर के कैलावन नामक क़स्बे में मेरी दूसरी कक्षा की और बुलंदशहर के ही ककोड़ नामक क़स्बे में तीसरी व चौथी कक्षा की पढ़ाई पूरी हुई. इस बीच अपने गांव से पांचवी से सातवीं कक्षा के बाद, आठवीं कक्षा की पढ़ाई सहारनपुर के कोटा नामक गांव में पूरी हुई ही थी कि फिर पिताजी का स्थानांतरण हो गया. मैं पिताजी के स्थानांतरण की सुन कर घबरा जाया करता और उदास हो जाया करता .... एक बार रची - बसी जगह छोड़ अन्य जगह पर स्वयं को 'एडजस्ट' करना मुझे दूभर प्रतीत होता था .... शायद इसकी वजह मेरा संकोची स्वभाव रहा है. नौ और दसवीं कक्षा की पढ़ाई सहारनपुर के एक क़स्बे छुटमलपुर से पूरी हुई तो अब की बार पिताजी ने सहारनपुर स्थायी रूप से हमें रखने का निर्णय लिया और हम लोग १९७१ से स्थायी रूप से सहारनपुर शहर में आ बसे.

मैं अपने बचपन और युवावस्था में हद दर्ज़े का संकोची जीव रहा हूं .... इस झिझक और संकोच ने मेरा पीछा कभी नहीं छोड़ा. आज भी यह छाया अक्सर मुझे ग्रसे बिना नहीं छोड़ती. इस प्रवृत्ति ने जीवन में मुझे बहुत हद तक पछाड़ा और किन्हीं अर्थों में उभारा भी. शायद इसी कारण, बचपन से ही अपने भीतर मैं एकाकी होता गया. अपनी ही किसी दुनिया में गुम. बाहर की दुनिया के हिसाब से अव्यवहारिक. भीतर की तरफ़ सिकुड़ता हुआ मन संवेदनाओं से घिरा रहता है ... किसी गुब्बारे की तरह नाजुक ...... पिन की नोक ज़रा-सा छू भर जाये कि फूट पड़ा ! ऐसे में अंदर का गुबार कहां निकले ? ....क़लम ही एकाकी मन का सच्चा सहारा है ..... एक मुक़म्मल दोस्त ! संवेदनशील आदमी की वास्तविक दुनिया उसके सपनों में होती है, जो बाहर की वास्तविक दुनिया से ज़रा भी मेल नहीं खा पाती. और मैं समझता हूं, वास्तविक जगत के सिर्फ़ आदर्श ही संवेदनशील आदमी के सपनों की दुनिया से मेल खा पाते हैं, जिनकी नींव पर वास्तविक दुनिया चाह कर भी खड़ी नहीं हो पाती. और एक संवेदनशील मन यही बर्दाश्त नहीं कर पाता. यही उसकी दुनिया में ख़लल की वजह बनता है और यही उसे उलझन और परेशानी में डाले रखता है. और तब, क़लम जिसका सहारा बन जाती है, वह इसी तरह की ख़लल से शब्दों की तस्वीरें खड़ी कर उनमें जान फूंकने की कोशिश करता रहता है. यही काम क़लम की जगह दूसरी कलाएं अपने-अपने माध्यमों से करती हैं. मुझे लगता है :-

'जिन्हें सुन कर बना लेता हूं तस्वीरें मैं शब्दों की,
मुझे आती हैं आवाज़ें न जाने किन ख़लाओं से'.

मेरे कवि और लेखक हो जाने की पृष्ठभूमि शायद यही रही है .... मेरी ग़ज़ल की ये पंक्तियां भी ज़िंदगी और अपने वजूद से उलझते हुए मेरे ज़ेहन की स्थिति कुछ इस तरह बयान करती हैं :-

'अगर है मसअला 'होना', 'नहीं होने' का हल क्या है,
न चाहूं ज़िंदगी को, तो बता इसका बदल क्या है?
ज़रा भी दिल पे लग जाये तो उठती है लपट जैसी,
ये खुद्दारी जो सर झुकने नहीं देती, ख़लल क्या है?'

हम अपने आपसे उलझते कब हैं ? .... तब, जब हम वो नहीं हो पाते जो हम होना चाहते हैं; जब हम वो नहीं कर पाते, जो हम करना चाहते हैं. हम जो होना और करना चाहते हैं और बाहरी दुनिया को जैसा देखना चाहते हैं, वैसा होने और देखने और करने में आख़िर अड़चन क्या है? व्यवहारिक जीवन में जिस आदमी के लिए 'आदर्श' अड़चन होते हैं, वही आदमी 'दुनिया के वैसा होने और दिखने में' अड़चन होता है.

ऐसा नहीं है कि सपनों में जीनेवाला आदमी उर्फ़ लेखक सिर्फ़ आदर्शों पर ही चलता और पलता है. ऐसा संभव ही नहीं. लेकिन वह आदर्शों का अधिकाधिक सामीप्य पाने के लिए निरंतर और हमेशा प्रयासरत और संघर्षरत रहता है. आख़िर होते क्या हैं आदर्श, जिन्हें पाना भी और लांघना भी आदमी की उत्कट अभिलाषा में शामिल है ? .... संभवतः आदर्श ऐसे किन्हीं बंधनों का नाम है, जिनके दायरे में रह कर आदमी अपने क्षुद्र-स्वार्थों से ऊपर उठ कर अपने साथ-साथ सभी के भले और सुख की कामनाओं

से सराबोर रह सकता है. लेकिन आदमी को उसकी अधिकाधिक पाने और दूसरों से हमेशा ऊपर रहने की हवस इन बंधनों में रहने ही कब देती है ! मानवीय स्वभाव के इसी चक्र-कुचक्र में कमज़ोर आदमी हमेशा दबा और कुचला जाता रहता है; उसके सपनों में बहुत मामूली और छोटी-छोटी चीज़ें बहुत बड़े मायने रखती हैं, और उन्हें ही हासिल करने में उसकी ज़िंदगी बीत जाती है. सबल और समर्थ आदमी के सपनों का कहीं कोई अंत नहीं होता; और उन्हें हासिल करने के लिए वो कुछ भी करने को तैयार रहता है .... कुछ भी.

और लेखक के सपनों में ऐसी दुनिया के अंतर्विरोध और टकराहटों की हलचलें खदबदाती रहती हैं ! विसंगतियां और विद्रूपताएं, चाहे सामाजिक जीवन की हों या राजनैतिक क्षेत्र की .... चाहे मानव मन की हों या मनुष्य के व्यवहारिक जगत की, लेखक को कभी चैन से नहीं रहने देतीं, क्योंकि उसे लगता है-

'हुआ है जो, नहीं है सच, नज़र का एक धोखा है,
ख़बर सुनकर यक़ीं करना ख़बर का एक धोखा है.
जिधर से चलके आये हम, उधर फिर लौट जाना है,
यहां चलने की हर कोशिश, सफ़र का एक धोखा है.'

किताबें बचपन से ही मेरी कमज़ोरी रही हैं; बाल सुलभ कविताएं और कहानियां ..... जादू लोक की, परी लोक की, जानवरों की, जासूसी और रहस्य की, और फिर उम्र के साथ-साथ विज्ञान की, मानवीय संबंधों की और अपने आस-पास के समाज की. पढ़ते-पढ़ते अपनी एक निराली दुनिया तस्सवुर में छा जाती थी ! इस जगत से भिन्न कोई कल्पनालोक ! किताब से जुड़ी बचपन की एक याद अब तक भी ताज़ा है .... मई-जून की भीषण गर्मियों भरी गांव की एक दोपहर .... ठेले पर एक बर्फ़ बेचनेवाला आया करता था, जो घिसी हुई दूध-मिश्रित बर्फ़ काग़ज़ या पत्तों पर रख कर दिया करता था. बर्फ़ खाने के बाद लगा, काग़ज़ के उस पन्ने पर कोई कहानी थी. बर्फ़ वाले से वही आधी फटी हुई किताब, जिससे पन्ना फाड़ कर मुझे बर्फ़ दी गयी थी, मैंने ख़रीद ली .... बचपन में काफ़ी दिनों तक मेरे पास रही. उन्हीं दिनों गीता प्रेस गोरखपुर की, शायद 'आदर्श कहानियां' नाम से, एक किताब मैं बड़े चाव से पढ़ा करता था. पाठ्य-पुस्तकों में छपी पशु-पक्षियों की कहानियां भी मुझे बड़ी आत्मीयता का एहसास करातीं जो मेरे भीतर एक अलग कल्पना-लोक रच देतीं !

और बचपन क्या, हक़ीक़त तो यह है कि आज भी .... कभी जब ज़िंदगी की तल्ख़ियां दिल में घबराहट बन जाती हैं, कभी जब दिन भर की व्यस्तताएं मन को थका देती हैं, कभी जब अपने आप ही से ऊब पैदा होने लगती है, कभी जब खुद को अस्त-व्यस्त महसूस करने लगता हूं तो किताब ही मेरा एकमात्र सहारा बन पाती है. और अक्सर तो यही हुआ है कि भाग कर मैं किसी लायब्रेरी में जा बैठता हूं. बस, किताबों के बीच मुझे जाने क्यों लगता है कि मैं पूर्ण सुरक्षित हूं .... गोया, नन्हा शिशु मां के आंचल में आ सिमटा हो .... सब तरफ़ से निश्चित ! बेशक कुछ न भी पढ़ूं .... कुछ देर किताबों की उलट-पलट करते रहने या सिर्फ़ कुछ देर बैठा रहने भर से भीतर एक नयी ऊर्जा बहने लगती है .... एक ताज़गी भरा एहसास ! कभी-कभी लगता है, मैं सिर्फ़ किताबों के लिए ही बना हूं और दुनिया और ज़िंदगी के बाक़ी काम निभाने भर के लिए हैं. हालांकि 'निभाने' की इस ज़िम्मेदारी से भी कभी मैंने अपने आपको भागते हुए नहीं पाया है!

सन् सत्तर में, जब मैं हाईस्कूल में था, कल्पनालोक के ताने-बाने बुनता रहता और कभी जानवरों की तो कभी अमीर-ग़रीब संबंधों की अनगढ़ कहानियां लिख-लिख कर उनके आठ-सात पन्नों को किताब की शक्ल दे दिया करता था; उन पर बतौर प्रकाशक भी कुछ न कुछ नाम डाल दिया करता था. उन दिनों दैनिक हिंदुस्तान में धारावाहिक चित्र-कथा 'जादूगर मेंड्रेक' छपा करती थी, जिसे मैं नियमित रूप से बड़े चाव से पढ़ा करता. घर के धार्मिक वातावरण के कारण श्रीभगवद्गीता के प्रति विशेष रुचि थी ..... एक बार उसके मुख्य-मुख्य अंशों को सार रूप में भी लिपिबद्ध किया था. बतर्ज़ रामचरितमानस की चौपाइयां, कितनी ही आदर्शवादी और धर्म-प्रेरित चौपाइयां भी लिखीं. उस समय का लिखा वह सब अभी भी मेरे पास सुरक्षित है.

लेकिन सच कहूं, मेरी कल्पना को गहरी और ऊंची उड़ान भरने के लिए पंख लगाये लोकप्रिय उपन्यासकार गुलशन नंदा के उपन्यासों ने, और आगे चल कर उसमें साहित्यिक और कलात्मक रंग भरा लब्ध-प्रतिष्ठित बांग्ला उपन्यासकार शरतचंद्र के उपन्यासों और हिंदी के प्रख्यात कथाकार और उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद की कहानियों ने. जासूसी और रहस्यमय कहानियों में भी मेरी गहरी रुचि रही है. विज्ञान-जगत के प्रति मेरा अपार आकर्षण मुझे सितारों और ब्रह्मांड के रहस्यों में उलझा कर ही रख देता है .... न जाने किस लोक में जा कर गुम हो जाता हूं. यही नहीं .... भूत-प्रेत, पारलौकिक, आध्यात्मिक जगत तथा पुनर्जन्म संबंधी रहस्य भी मुझे लुभाते हैं .... अनेक कारणों से इनके अस्तित्व पर मेरा विश्वास है. हालांकि, अपने कथा-लेखन में इनके समावेश से मैं

बचता रहा हूं, क्योंकि लेखन में असावधानी पूर्वक किया गया इनका समावेश पाठक को अंधविश्वास की तरफ़ गुमराह कर सकता है.

पहला उपन्यास लिखने का प्रयास हुआ १९७२ में, जब मैं सहारनपुर के एक कॉलेज में इंटर का छात्र था. कॉलेज में मैं नया-नया भर्ती हुआ था. तब शहर भी नया था मेरे लिए. अपने संकोची स्वभाववश कक्षा में मैं पीछे की सीट पर ही बैठता था. अध्यापक पढ़ा रहे होते तो मेरे बराबर की सीट पर बैठनेवाला एक छात्र अक्सर कोई किताब पढ़ने में डूबा रहता था. गुप्ता जी ये क्या पढ़ते रहते हो ? मेरे पूछने पर उत्तर मिला - नॉवेल. इसके बाद उसने अति उत्साह दिखाते हुए आगे यह भी जताया - मैं तो लिखता भी हूं. अगले रोज़ वह अपने तथाकथित नॉवेल की पांडुलिपि (जो किसी कॉपी पर थी) मुझे दिखाने लाया. शायद एक बेढंगी सिनेमाई प्रेम कहानी जैसा कुछ था उसमें, और मुझे शायद उसने प्रभावित भी नहीं किया था. लेकिन मेरे भीतर एक खलबली-सी मच गयी ..... मुझे भी उपन्यास लिखना है. भीतर की इस उथल-पुथल का परिणाम कि रात को बहाना पढ़ाई का होता और डूबा रहता उपन्यास के किसी प्लॉट की कल्पना में! और अब धुंधली-सी याद है, पूरी तरह नहीं .... संभवतः एक सौतेली मां द्वारा सतायी जा रही एक लड़की की कहानी के प्लॉट पर चल पड़ी मेरी क़लम .... अत्यंत बचकानी, कच्ची और अनगढ़ शैली. मैं स्वयं भी उससे संतुष्ट न था .... कुछ मज़ा नहीं आ पाया था ..... लेकिन कमी क्या थी, यह समझने की सामर्थ्य उस उम्र में नहीं थी. पूरा लिख ही नहीं पाया था. फिर वे लिखे हुए कुछ पन्ने भी समय के साथ कब और कहां रद्दी में गुम गये, नहीं पता. याद आता है, बाद में कहानी के प्लॉट बनाने की धुन में लगा रहता लेकिन बात बनती ही न थी. कुछ समझ ही नहीं आता था, क्या और कैसे लिखूं. लेकिन हां, उक्त सहपाठी छात्र 'गुप्ता' से मेरे संबंध बाद में गहरी आत्मीयता में ढलते चले गये. ('मधुप' नाम से व्यंग्य कविताएं लिखनेवाले, पेशे से एडवोकेट, मेरे उस दोस्त का बेवक़्त दुःखद निधन गत वर्ष हो गया.).... और हम दोनों उपन्यास छोड़ कविताओं की तरफ़ मुड़ गये. दोस्ती में इतना प्यार उमड़ा कि एक-दूसरे का अधिक से अधिक सान्निध्य पाने की कोशिश करते और अधिक समय साथ ही बीता करता था. निकटता और प्यार जब बढ़ता है तो अनेक प्रकार के गिले-शिकवे भी बढ़ते हैं और एक-दूसरे की छोटी से छोटी मामूली भूल भी चुभने लगती है. अक्सर ऐसा ही होता .... कच्ची उम्र की भावुकता आपस में तनाव और झगड़ना, बोलचाल बंद, फिर तड़प, ... मान-मुनव्वल. ऐसे में मैं अपनी बात को उसके सामने प्रत्यक्ष रखने के बजाय अपने पक्ष और अपनी भावनाओं को ठीक और तर्कसंगत ढंग से रखने के लिए उसे लंबे-लंबे पत्र लिखा करता. भावुकता और दुःख से सराबोर. जब तक बात उस तक न पहुंच जाती, अपने में खोया रहता. बोलचाल शुरू हो जाती लेकिन पत्रों में दिये गये मेरे तर्कों पर वो व्यंग्यात्मक लहजे में ऐसी काट करता कि मैं फिर तिलमिला जाता.

मुझे लगता है, कच्ची उम्र के भावुकता भरे उस दौर में पत्र-लेखन का वह लंबे वक़्त तक चला सिलसिला कथा-साहित्य की तरफ़ मेरे झुकाव को पुष्ट करता चला गया.

उपन्यास-लेखन में मेरी विशेष रुचि रही है, हालांकि उपन्यास लेखन की मेरी गति बाद के समय में बेहद धीमी रही है और बहुत अधिक औपन्यासिक कृतियां नहीं दे पाया हूं. झुकाव आज भी इधर ही है.

१९७३ में मैं स्नातक का छात्र था. यूं तो उस दौरान १९७३ से पूर्व और पश्चात छिटपुट कहानियां भी लिखीं, कविताएं भी .... लेकिन, एक दिन न जाने क्या सूझी कि मन ने संकल्प ले डाला, आज से निरंतर नियमित लिखना है .... और इस आशय की एक कविता भी, 'विचार प्रवाह' शीर्षक से लिख डाली- 'विचारों के प्रवाह में/अथवा युवावस्था के बहाव में/ बह चला हूं मैं / मुझे मत रोको / मत टोको / जाने दो / विचारों की पतवार से / युवावस्था की नाव को / बहाने दो / तूफ़ानों से गुज़रने दो / ज़िंदा हूं यदि ज़मीं पर / तो मरने को / मुझे मरने दो / ए हवा के झोंको! / मुझे मत रोको / मत टोको / जाने दो.'.... तब से नियमित लेखन शुरू हुआ, जो लगभग आज तक जारी है. हालांकि अधिकांश लेखन कविताओं के हिस्से में ही आया, लेकिन कविताओं के नियमित लेखन के साथ १९७४ में एक उपन्यास शुरू किया, जो कच्चेपन से लबरेज़ तो था लेकिन एकदम शुरूवाले से बहुत बेहतर था, प्रेम और ग़रीबी से संघर्ष करते एक बेरोज़गार युवक की त्रासद कहानी. कथ्य के स्तर पर सोच कुछ बेहतर प्रतीत होती है अगले उपन्यास मेंजो १९७५-७६ में लिखा .... हालांकि लेखन-शैली के लिहाज से उसमें भी बेहद अपरिपक्वता झलकती थी. यह प्रेम कहानी से सर्वथा अलग पाश्चात्य संस्कृति का नक़ल में रंगे एक ऐसे पति-पत्नी के परिवार का किस्सा है. जहां बूढ़े बाप की और अपनी संस्कृति की पूरी तरह उपेक्षा होती है. इस उपन्यास का लेखन एक आदर्शवादी अंत के साथ होता है. फिर, पहली बार किसी उपन्यास को प्रकाशित कराने की तरंगें मेरे भीतर उठने

लगीं. पांडुलिपि एक टाइपिस्ट के साथ रोज़ बैठ कर टाइप करायी और भेज दी दिल्ली के एक प्रख्यात प्रकाशक को, जो कुछ दिनों में ही सखेद वापस मेरे हाथों में थी ..... घोर निराशा! आगे फिर १९७६-७७ में और एक उपन्यास .... भावुकता भरे यौवन के प्रेम की असफलता, निराशा और टूटन की त्रासद कथा !

आप क्यों लिखते हैं ? यह एक सामान्य-सा सवाल है, जो अक्सर लेखकों से पूछा जाता है. कहा जाता है कि सृष्टि-रचयिता ने अपने आपको व्यक्त करने की इच्छा की - 'एकोऽस्मि बहुस्याम्' ..... और तब सृष्टि में मनुष्य अस्तित्व में आया. मनुष्य भी सृष्टि-रचयिता का ही एक अंश है. और शायद इसीलिए मनुष्य का सहज स्वभाव है - अपनी पहचान बनाने और स्वयं को अभिव्यक्त करने की आकांक्षा. यह लालसा अलग-अलग व्यक्ति में अलग-अलग तरीके से व्यक्त होती है, लेकिन हर कोई अपने आपको व्यक्त अवश्य करना चाहता है. मैं भी अपने-आपको हर तरह से अभिव्यक्त करना चाहता हूं, हालांकि पूरी तरह से आज तक कोई स्वयं को अभिव्यक्त कर ही नहीं पाया ..... हर कोशिश में कुछ न कुछ हमेशा छूट ही जाता है; और उस कुछ छूटे हुए को फिर-फिर पकड़ने की बार-बार कोशिश में कोई लेखक, कवि या कोई भी कलाकार एक अबूझ प्यास के साथ स्वयं को अपनी अभिव्यक्ति में तलाशता ही रहता है. यह तलाश कभी ख़त्म होती ही नहीं. इसकी वजह शायद मेरी ग़ज़ल के इस शेर में अभिव्यक्त हो पायी है...

''एक ख़ालीपन सफर की इंतिहा तक साथ था,
जो मुझे वापस सफ़र की इब्तिदा तक ले गया.''

हर चिंतनशील व्यक्ति जाने-अनजाने अपने जीने की सार्थकता अवश्य तलाशता है. यही तलाश व्यक्ति को उसकी पहचान बनाने की तरफ़ ले जाती है. अपनी पहचान स्थापित करना हर आदमी की स्वाभाविक इच्छा होती है. मेरी एक ग़ज़ल की ये पंक्तियां भी किसी उत्कट अभिलाषा को अभिव्यक्ति देती हैं :-

''मेरी इस ज़िंदगी का सार्थक उन्वान कुछ तो हो,
मेरे जीने का मक़सद है मेरी पहचान कुछ तो हो.''

लेकिन, एक सच्चे रचनाकार या कलाकार के लिए पहचान की यह कामना सिर्फ़ यश की प्राप्ति तक सीमित नहीं रहती, किसी सार्थक उद्देश्य की उपलब्धि के प्रयास की ओर संकेत करती है. दुनिया जैसी है ऐसी नहीं बल्कि वैसी होनी चाहिए जैसी होने से दुनिया में मौजूद विसंगतियां किसी को भी, किसी भी रूप में झेलनी न पड़ें. ये विसंगतियां ही तमाम बुराइयों की जड़ हैं, जिनसे भेदभाव, क्रूरता, अत्याचार, शोषण, कलह, ईर्ष्या-द्वेष, दुःख, अपमान और न जाने क्या-क्या जन्म लेता है. मेरा लेखन इन्हीं विसंगतियों का संकेत पाठक को देने का प्रयास करता है. निजी जीवन के दुःख व संघर्ष भी अपनी अभिव्यक्ति चाहते हैं और क़लम की ऊर्जा बन जाते हैं. स्वयं को व्यक्त करने और अपनी पहचान बनाये रखने का यही सपना मेरी क़लम को निरंतर गति और ऊर्जा दिये रखता है.

ज़िंदगी के बहुत से अनुभव और अनुभूतियां जब सघन हो कर दवाब पैदा करने लगते हैं तो भीतर की उथल-पुथल एक आकार लेने लगती है. यह उथल-पुथल कई पात्रों की शक्ल में ढलती चली गयी. और १९८१ से ये तमाम पात्र एक-एक कर एक उपन्यास को आकार देने लगे, जिसे ''चाचा दिवाकर'' नाम से शुरू किया गया था. इसी बीच १९८३ में मैं अपनी नौकरी के सिलसिले में रूड़की आ गया. समाज और मानवीय व्यवहार की विसंगतियों को लेकर बुने गए इस उपन्यास का शेष लेखन १९८४ तक यहीं हुआ. इस उपन्यास में कुछ ऐसा था जो मुझे इसके प्रकाशन के प्रति आश्वस्त कर रहा था. अपनी किसी भी विधा की किसी भी रचना को मुकम्मल करने से पूर्व किसी के साथ उस पर चर्चा करना मेरे स्वभाव में कभी रहा नहीं, अतः प्रत्येक रचना के हर पहलू से मुझे खुद ही उलझना पड़ता है, और पांडुलिपि को फेयर करना एक प्रकार से उसका पुनर्लेखन ही हो जाता है. इसी प्रकार उलझते-उलझाते उपन्यास की फेयर पांडुलिपि पर काम कर रहा था कि उपन्यास की कथा के एक प्रसंग में अचानक एक स्वतःस्फूर्त शब्द कौंध गया-''इतिसिद्धम्'' उपन्यास के लिए यही शीर्षक ठीक जंचा और रख दिया. पांडुलिपि तैयार. लेकिन न तो पांडुलिपि ले कर किसी प्रकाशक के पास जाने का साहस था और न ही स्वयं प्रकाशित करने लायक पैसा. बस, पत्र-व्यवहार ही एक मात्र उम्मीद और सहारा था. प्रकाशकों को जवाबी पत्र..... जिसका जवाब सबका एक जैसा ही... पूर्व स्वीकृत पांडुलिपियों की अधिकता के कारण अभी संभव नहीं.

वर्ष १९८७.... राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका 'मधुमती' पढ़ते हुए उसमें प्रकाशित एक विज्ञप्ति पर नज़र पड़ी तो कहने ही क्या. वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली की ओर से उसी वर्ष प्रारंभ किये गये 'प्रेमचंद महेश सम्मान' के लिए ४० वर्ष से कम उम्र के लेखकों से अप्रकाशित उपन्यास की पांडुलिपियां आमंत्रित की गयी थीं. .... था तो तपते रेगिस्तान में पानी के भ्रम जैसा ही! मगर प्यास बुझानी थी तो उस दिशा में क़दम भी बढ़ा ही दिये और 'इतिसिद्धम्' की पांडुलिपि भेज दी. महीनों तक कोई उत्तर न

आया. पत्र लिखा .... जवाब आया, आपकी पांडुलिपि पर विचार हो रहा है. मन आश्वस्त हुआ. लेकिन यह क्या! एक रोज़ ऑफिस से घर लौटा तो एक पत्र ने मेरा कुछ ऐसा स्वागत किया कि देर तक समझ ही न आया. मैं ख़्वाब में था या सच में? 'इतिसिद्धम' को तीन लब्ध-प्रतिष्ठित साहित्यकारों श्री नागार्जुन, श्री शिवप्रसाद सिंह तथा श्री रामदरश मिश्र के निर्णायक मंडल द्वारा पुरस्कृत घोषित किया गया था. एक मत से निर्णय, 'यह कृति भारतीय समाज के जटिल यथार्थ को पूरी शक्ति और संवेदना के साथ व्यक्त करने में समर्थ है. इसमें मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था और संघर्ष की चेतना भी है.'

नकद ग्यारह हजार रुपये का यह पुरस्कार हालांकि संयुक्त रूप से दो प्रतियोगियों की औपन्यासिक कृतियों के लिए आधा-आधा घोषित किया गया था, लेकिन मेरे लिए यह भी कोई कम सौभाग्य और खुशी की बात न थी कि मेरी पहली पुस्तक को एक प्रतिष्ठित प्रकाशन द्वारा पुरस्कृत और प्रकाशित होने का गौरव हासिल हो पा रहा था.

मेरी दिलचस्पी मुख्यतः तीन विधाओं के लेखन में रही है- उपन्यास, कहानी और कविता. कहानियों पर भी शुरू से ही क़लम आज़माने की कोशिश रही है. शुरुआत अख़बारी कहानियां पढ़ने से प्राप्त प्रेरणा से हुई. इसके अतिरिक्त उस समय (१९७३-७४) की साहित्यिक पत्रिकाएं जैसे- सा. हिंदुस्तान, धर्मयुग, सारिका इत्यादि में प्रकाशित कहानियां पढ़ते हुए भीतर वैसा ही कुछ रचने की उथल-पुथल महसूस होने लगी थी. फिर उस समय मुंशी प्रेमचंद, मंटो, कृश्नचंदर, मणि मधुकर इत्यादि कथाकारों के पठन-पाठन ने मेरे भीतर कहानी-लेखन के प्रति एक ललक पैदा की और कथा-लेखन के प्रति मेरा मानसिक माहौल तैयार करने में मदद की. किशोरवय का मन वैसे ही बेहद संवेदनशील था .... ऊपर से संकोच और आदर्शवादी होने की हद तक अव्यवहारिकता ! .... जो मन में होता, मन ही में समाया रहता .... तो मन को जो भी बात चुभती या लगती, असंगत जो भी घटित होते हुए समाज या परिवार में महसूस होता, अख़बार की जो कोई मार्मिक घटना मन को छू गयी होती, मेरी क़लम उसे कहानी में पकड़ने की कोशिश करती.

मेरी कहानियों के पात्रों पर आदर्शवाद हावी नहीं रहता. यथार्थ के धरातल पर मैं उन्हें मनोवैज्ञानिक स्तर से पकड़ने की कोशिश करता हूं. वस्तुतः जो हमें घटित होता दिखायी पड़ता है, वह सच नहीं भी हो सकता, यह एक तथ्य है जो किसी भी व्यक्ति, घटना या परिस्थिति पर लागू हो सकता है. उसके पीछे की वस्तुस्थिति को उन घटनाओं या परिस्थितियों और व्यक्ति के भीतर चल रहे अंतर्द्वंद के परिप्रेक्ष्य में ही ठीक से समझा जा सकता है. यही समझने और पकड़ने का प्रयास कहानी के जरिए मैं करता हूं. मेरी पहली कहानी प्रकाशित होने का सुयोग दिल्ली प्रेस की पत्रिका 'भूभारती' में और उसके बाद दूसरी को 'मुक्ता' में प्राप्त हुआ, १९८० में. उसके बाद 'सारिका' में भी दो कहानियां स्वीकृत हुईं, लेकिन बार-बार पत्राचार और आश्वासन के बावजूद किन्हीं कारणों से प्रकाशित ही न हो सकीं. फिर उसके बाद 'सारिका' ही बंद हो गयी. लेकिन फिर आगामी समय में मधुमती, कहानियां, कथाबिंब, कथानक, हंस, कथादेश, आजकल.... तथा अन्य अनेक लघु पत्रिकाओं में मेरी कहानियों को स्थान मिलता रहा है.

१९८५ में एक और उपन्यास की नींव पड़ी. स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित इस उपन्यास में दो स्त्रियों का अपने-अपने स्तर पर पुरुषों के अहं एवं स्त्री के प्रति दासी-भाव के विरुद्ध संघर्ष और अंतर्द्वंद का मनोवैज्ञानिक चित्रण है, जिनमें से एक स्त्री पति को ही परमेश्वर माननेवाली और दूसरी खुले विचारों वाली किंतु अपने परिवार और अपनी मर्यादा को निभानेवाली है. १९८९ तक पूर्ण होनेवाले 'तिनका-तिनका नीड़' नाम से इस उपन्यास की पांडुलिपि को तीन प्रकाशकों ने लौटा दिया था. फिर, दिल्ली के ही एक प्रकाशक ने प्रकाशित करने का वायदा कर रख लिया. लेकिन एक वर्ष बाद पांडुलिपि अनेक टिप्पणियों के साथ वापस लौट आयी. तब इसे मैंने पूरी तरह से दोबारा लिखा और 'आकाश मेरा भी' नाम से वर्ष २००२ में इसका प्रकाशन हुआ.

लेकिन बीच की इस अवधि के दौरान १९९७ में एक ग़ज़ल-संग्रह 'पानी की पगडंडी' तथा एक कहानी-संग्रह 'सूखे तालाब की मछलियां' और १९९४ से १९९६ के बीच लिखी सामाजिक और राजनैतिक विद्रूपताओं पर चोट करनेवाली औपन्यासिक व्यंग्य कृति 'हम दोपाये हैं' वर्ष १९९८ में प्रकाशित हुई. एक और कहानी-संग्रह 'उजले रंग मैले रंग' २००५ में प्रकाशित हुआ.

अपने अब तक के लेखन काल में मैंने बहुत बार चाहा कि अपना ध्यान मात्र कहानी और उपन्यास लेखन पर ही केंद्रित रखूं, लेकिन क्या कभी कोई अपने पहले प्यार को जीवन-भर तक के लिए भुला पाया है? कविता एक सहेली की तरह मेरे साथ निरंतर सहजता और अंतरंगता बनाये हुए है. प्रारंभ में यह मेरी कभी मुक्त-छंद सहेली रही और कभी छंद-हीन अनगढ़ गीतों और तुकांत कविताओं के रूप में सहगामिनी.

इस समय मुझे कविता का ग़ज़ल-रूप ही विशेष प्रिय है.

पीछे मुड़ कर देखने पर पाता हूं कि मेरे प्रारंभिक काव्य में ग़ज़ल का अनगढ़ रूप मौजूद रहा है, हालांकि उस वक़्त मैं नहीं जानता था कि ग़ज़ल होती क्या है. लेकिन कुछ ऐसा था जो उस वक़्त कविता का वह रूप मुझे आकर्षित करता था .... एक अजीब-सा सम्मोहन था. मुक्त-छंद कविताएं लिखीं, गीत लिखे .... लेकिन अंततः मन ग़ज़ल के रंग में ही रम गया.

ग़ज़ल के लिए ज़ामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली से पत्राचार माध्यम का उर्दू कोर्स किया. ग़ज़ल के छंद-विधान (अरूज़) और उर्दू बहरों का भी काफ़ी अध्ययन-मनन किया. ग़ज़ल के स्वरूप की बारीकियों को जानने-समझने के लिए ग़ज़लों का गहन और सूक्ष्म अध्ययन-विश्लेषण तो मैं हमेशा किया ही करता हूं. .... और अब कहीं जा कर मेरे ख़्वाबों और खयालों को अपने आगोश में ले कर ग़ज़ल ने मुझे अपनी निकटता का कुछ-कुछ एहसास दिया है. जिसकी मारिफ़त मैं-

''अभी भी ढूंढ़ता हूं खुद को उन सुनसान हिस्सों में,
छुपे हैं जो मेरे दिल के कई वीरान हिस्सों में,
मेरी ख़्वाहिश कि हो मेरा मुकम्मल अक्स भी कोई,
समेटूं उम्र-भर बिखरी हुई पहचान हिस्सों में.''

लेखन के इस सफ़र ने मुझे कितनों ही से जीवन-भर की दोस्ती हासिल करायी.... जिन्होंने ज़िंदगी के सफ़र में मेरे सुख-दुःख उठाये और क़लम के सफ़र में मेरी हौसला अफ़ज़ाई में भी कोताही नहीं बरती.... कितनों ही से अपनत्व और स्नेहसिक्त भाव में बांधे रखा, जिन्होंने हमेशा मेरी पीठ थपथपायी, जिसने मेरी क़लम को एक गति और ऊर्जा से भरे रखा ..... और ऐसा भी कि कितनों ही से लंबे समय तक पत्र-संपर्क द्वारा हौसला और आत्मीयता मिलती रही, हालांकि वक़्त ने अभी तक मुलाक़ात का मौक़ा ही नहीं दिया .... इसके अलावा भी वे बहुत से अज्ञात पाठक जो जब-तब प्रकाशित रचनाओं पर अपने पत्रों द्वारा मेरी हौसला अफजाई करके मुझे पुरस्कार पाने का सुख देते रहते हैं, उन सभी का मेरे दिल में हमेशा एक सम्मानित स्थान रहा है.

ज़िंदगी जो रास्ता हमें देती है वो सीधा-सीधा तो होता नहीं. इसलिए हम अपने ही रास्ते बनाने की कोशिश किया करते हैं. लेकिन क्या कोई कभी अपना सीधा रास्ता बना भी पाया है? .... और, आड़े-तिरछे और ऊबड़-खाबड़ रास्ते भीतर की एकाग्रता को हवा में हिलती उस लौ की तरह विचलित किये रखते हैं, जिससे सटा कर दूसरा चराग जलाना मुश्किल हो जाता है. पिछले काफ़ी समय से मेरी ज़िंदगी भी ऐसी ही उथल-पुथल में उलझी रही है, जिसके चलते भीतर की सब चीज़ें उलट-पलट और अस्त-व्यस्त हुई पड़ी हैं. कितने ही ख़्वाब और ख़याल इन चीज़ों के बीच उलझे पड़े हैं, और मुझे ऐसा लगता रहा है, गोया मैं पानी की लहरों को अपनी मुट्ठियों में बांधने की कोशिश करता रहा हूं. ... एक मुद्दत से कोई कहानी या कोई उपन्यास क़लम की नोक तक आते-आते किन्हीं अंधेरों के बीच गुम हो-हो जा रहे हैं! ... लेकिन फिर, मेरी ग़ज़ल की ये पंक्तियां मुझे यूं हौसला भी देती हैं-

''शिकस्ता दिल जो खुद्दारी से अपनी प्यार करता है,
ज़ियादा हौसले से खुद को फिर तैयार करता है,
किनारे से सफ़र की दूरियां मापा नहीं करते,
मुसाफ़िर डूब कर सारे समुंदर पार करता है.''

दरअसल मैंने लिखना बहुत ज़्यादा चाहा है और अब तक लिख बहुत कम पाया हूं. मैं लिखना बहुत चाहता हूं ...ख़ूब-ख़ूब लिखना चाहता हूं ... बस, लिखते ही रहना चाहता हूं. लिखना ही मेरे होने का एहसास है .... लेखन गोया ज़िंदगी का ही दूसरा नाम हो .... लेखन थमने की कल्पना से सांसें थमने का एहसास होने लगता है, भले ही लेखन की गति धीमी हो और मैं कम ही लिख सकूं लेकिन यह सिलसिला, यह निरंतरता बनी रहे. यह मेरी अनुभूति है, जो दूसरों को अतिशयोक्ति लग सकती है. यह मेरी समझ से बाहर है कि मैं अगर अपने एहसासों और अनुभवों को, अपनी सोचों और कल्पनाओं को, अपने आस-पास की ज़िंदगी और समाज को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता तो फिर जीने का मतलब क्या रह जाता है? बेशक ज़िंदा रहो, मगर वह जीना ज़िंदगी नहीं हो सकती. अब यह बात अलग है कि वक़्त फुरसत कितनी देता है और उसमें कितना हम सार्थक कर पाते हैं .... करने को बहरहाल बहुत कुछ है. और इसीलिए-

बचा कर आग इक ऐसी मैं अपने में निहां रखूं,
मुसलसल अपने भीतर प्यास का दरिया रवां रखूं.

१९३/७, सोलानी कुंज, भा.प्रौ.सं.
रुड़की (उत्तराखंड) २४७६६७

निवेदन

इस अंक के साथ जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त हो रहा है उनसे निवेदन है कि शीघ्र ही अपने ग्राहक शुल्क का नवीनीकरण करा लें. **- संपादक**

सागर/सीपी

'धर्म और उससे जुड़े साकार तत्व समाज का अभिन्न अंग हैं !'

✍नंदकिशोर नौटियाल

(वरिष्ठ पत्रकार, संस्कृतिकर्मी नंदकिशोर नौटियाल से डॉ. राजन नटराजन पिल्लै की 'कथाबिंब' के लिए विशेष बातचीत.)

• आदरणीय नौटियाल जी, आज पत्रकारिता, सामाजिक संस्कार और सांस्कृतिक गतिविधि का लगभग कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें आशीर्वाद पाने की कामना से आप आमंत्रित न किये जाते हों. हिंदी विश्व में आपका नाम सम्मान से लिया जाता है, पत्रकारिता में आपको वरिष्ठतम स्थान प्राप्त है; आज आप लगभग शिखर पर खड़े हैं तो कैसा लगता है आपको?

राजम जी, मैं विनम्रतावश ऐसा नहीं कह रहा हूं पर सचाई यह है कि मैं सायास चढ़ाई कर किसी शिखर पर नहीं पहुंचा हूं और न ही मैं शिखर पर हूं. आख़िर पहाड़ी आदमी हूं, पौड़ी गढ़वाल उत्तराखंड का, पहाड़ों के बीच जन्मा-पला हूं. हमारे यहां के तो छोटे-छोटे बच्चे बकरियां लेकर इतनी-इतनी ऊंचाइयों पर चढ़ जाते हैं. उन्होंने किसी माउंटनियरिंग क्लब से ट्रेनिंग नहीं ली होती है और न ही उन बच्चों को कोई पर्वतारोही कहता है या सीने पर तमगे टांकता है. मैं भी ऐसा ही एक पहाड़ी किशोर हूं जो कभी सरल-सुगम रास्ते से तो कभी दिशाहारा-दिशाहीन होकर अपना काम करता चला जाता है और कभी किसी पर्यटन-पत्रिका में उसकी तस्वीर छप जाती है तो लोग कहते हैं, 'अरे, यह तो हिमालय के एक शिखर पर खड़ा है!'

• आज आप समुद्रतटीय मुंबई में हैं, महानगर में हैं, देश की औद्योगिक राजधानी में हैं. बचपन तो आपका शायद इससे ठीक विपरीत भौगोलिक-सामाजिक स्थितियों में गुज़रा होगा?

हां! मेरी जन्म तारीख़ १५ जून १९३१ बतायी जाती है, लगभग-लगभग वही होगी भी. उस ज़माने में, जब स्कूल में नाम लिखाना होता था तब जन्म-तारीख़ें अंदाज़ से तय होती थीं वरना जन्म-मरण तो कभी मौसम के आधार पर तो कभी व्रत-त्यौहार के आधार पर याद रखे जाते थे. जबकि उस ज़माने के लिहाज़ से हमारा परिवार बहुत छोटा परिवार था. पिता ठाकुर प्रसाद नौटियाल, मां सौभाग्यवती देवी, मैं, एक भाई, दो बहनें. आज मेरा परिवार भी छोटा-सा ही है, पत्नी-रुक्मिणी, बेटी उमा, बेटे राजीव और भरत. जन्म हुआ मेरा पौड़ी गढ़वाल के मसणा गांव में. वहीं चौथी तक पढ़ाई की, पिताजी रोज़गार के सिलसिले में दिल्ली पहले आ गये परिवार बाद में आया. पांचवीं से मेरी पढ़ाई दिल्ली में हुई. १९४१ में हम दिल्ली आये. हायर सेकंडरी के बाद १९४८ में कॉलेज में, साइंस में दाख़िला लिया... छोड़ दिया.... फिर १९५१ में पढ़ाई जारी रखने की कोशिश की पर जमा नहीं.... बी.एस-सी. पूरा नहीं कर पाया.

• अंग्रेज़ कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट की एक कविता है, 'द रोड नॉट टेकन'. ज़िंदगी में ऐसे दो राहे आते हैं जब दो में से कोई एक राह चुननी पड़ती है. अगर आप वह राह चुनते हैं जिस पर अधिकांश लोग चलते हुए दीखते हैं, जो ज़्यादा सीधी-सुगम दिखती है तब तो शायद कोई ख़ास परेशानी नहीं होती लेकिन अगर आप वह राह चुनते हैं जिस पर क़दमों के निशान बहुत कम हैं, जो पथरीली, कंटीली, पगडंडी सी नज़र आती है तो 'दैट मेक्स ऑल द डिफरेंस'. वह फैसला आपकी ज़िंदगी को हमेशा के लिए बदलकर रख देता है. आपके साथ ऐसा ही कुछ हुआ?

जी, ऐसे दोराहे ज़िंदगी में कई बार आये. असल में, आजकल के मां-बाप जैसे एकदम करियर माइंडेड, फोकस्ड होते हैं उस समय के ऐसे नहीं होते थे. मेरे पिता मुझे साइंटिस्ट बनाना चाहते रहे होंगे लेकिन वे उग्र रूप से महत्वाकांक्षी नहीं थे. किसी भी प्रकार की कट्टरता, आग्रह-दुराग्रह मेरे परिवार की सोच में नहीं था शायद इसीलिए मुझे भी विरासत में वह नहीं मिला. हम ब्राह्मण हैं, मेरी पत्नी तो उस विशिष्ट ब्राह्मण परंपरा में मानी जाती हैं जिसमें आदि शंकराचार्य के केरल के नंबूद्री लोग हुआ करते हैं जो बद्रीनाथ-केदारनाथ मंदिर में पुजारी बनते हैं लेकिन न मेरी मां ने और न मेरी पत्नी ने कभी इस बात पर एतराज़ किया कि हमारे घर कौन आता है, घर की थाली-प्याली में खाना खानेवाले की जाति क्या है, धर्म क्या है? किसी धर्मनिरपेक्ष समाजवादी-साम्यवादी दर्शन का सायास अनुगामी होने की वजह से ऐसा नहीं हुआ, यह उनकी सहज जीवन-प्रणाली थी, ज़िंदगी में जो-जो आता जाये उसे सहज स्वीकार कर लिया जाये.

वह ज़माना आज़ादी की लड़ाई का था; स्कूल-कॉलेज के

छात्र उसकी रीढ़-रज्जु थे. मैं स्टुडेंट कॉन्ग्रेस का सदस्य बना. १९४६ में बैंगलोर में कॉन्फ्रेस हुई थी, आचार्य कृपलानी ने उद्घाटन किया था. नरेंद्र गोयल सोशलिस्ट थे हमने बड़ी कोशिश की कि वे अध्यक्ष बनें पर वे हार गये और रवींद्र वर्मा अध्यक्ष बने. हमारे हिंदू कॉलेज में पार्लियामेंट थी और मैं तो कहूंगा आज की पार्लियामेंट से बेहतर थी क्योंकि सदस्यों में अनुशासन था, सहिष्णुता थी, विपक्षी की बात सुन सकने की ताब थी.

सो बस, विद्यार्थी जीवन में पढ़ाई से ज़्यादा आंदोलनों में मन लगने लगा; लेई बनाने से लेकर रात-रात भर पोस्टर चिपकाने का काम लेबोरेटरी में प्रयोग करने से ज़्यादा सार्थक लगता था.'गांधी की आंधी' ही कुछ ऐसी थी.

• कॉन्ग्रेस पार्टी में आप फिर पदाधिकारी आदि बने?

नहीं, वह उम्र जोश-ख़रोश की थी, क्रांति के ज़रिए समाज-परिवर्तन पर ज़्यादा यक़ीन होता था. हृदय परिवर्तन पर कम. इसलिए पहले स्टुडेंट फेडरेशन में शामिल हुआ और फिर कम्युनिस्ट पार्टी में. कहना चाहिए १९५१ से १९६१ के अंत तक कम्युनिस्ट पार्टी में रहा. ट्रेड यूनियनों में बड़ा सक्रिय था, सेंट्रल वर्कर्स यूनियन का सेक्रेटरी था.

• फिर कम्युनिस्ट पार्टी आपने छोड़ दी?

नहीं, वह जैसे छूट गयी बाहरी-भीतरी हालात की वजह से. १९६२ में कम्युनिस्ट पार्टी दो टुकड़ों में विभाजित हो गयी. मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा, बहुत सारे कार्यकर्ताओं को अच्छा नहीं लगा, एक तरीक़े से समूचे साम्यवादी आंदोलन पर कुठाराघात हो गया. मैं १९६२ में बंबई आया, नौकरी के सिलसिले में, यहां कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े-बड़े नेता थे; विठ्ठल चौधरी, डांगे आदि. संपर्क सबसे रहा, बरसों रहा पर सदस्यता दोनों में से किसी की नहीं ली सो वह पक्ष वहीं जैसे छूट गया. फिर पूरे तौर पर पत्रकारिता में लग गया.

• हिंदी 'ब्लिट्ज़' में?

नहीं, वैसे पत्रकारिता की शुरुआत काफ़ी पहले हो चुकी थी. मेरे चचेरे भाई परशुराम नौटियाल मुंबई से 'नवभारत' साप्ताहिक निकालते थे उन्होंने मुझे पहले दिल्ली में अपना प्रतिनिधि बनाया और फिर जब मैंने पढ़ाई छोड़ दी तो मुंबई बुलाकर उसमें सहायक संपादक बना दिया. 'नवभारत' पहले वेंकटेश समाचार प्रेस से छपता था. उसके बाद महारथी प्रेस में छपने लगा. मैं महारथी पत्रिका के संपादक रामचंद्र शर्मा महारथी से मिला तो उन्होंने कहा आप कैसे सहायक संपादक हैं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि टाईप सेटिंग कैसे की जाती है? ट्रेडल मशीन कैसे चलाई जाती है? सो, उनसे प्रिंटिंग का बेसिक काम सीखा और पता चला कि मोटर मालिक को न सिर्फ़ ड्राइविंग आनी चाहिए बल्कि उसे मेकैनिक भी होना चाहिए. ख़ैर, सन १९५८ में आया था मुंबई, १९६१ में वापस चला गया. इस बीच कई पब्लिशिंग गृहों के लिए काम किया. 'पर्वतीय जन' अख़बार निकाला; 'हिमालय टाइम्स' निकाला और 'मज़दूर जनता' नामक ट्रेड यूनियन अख़बार निकाला. 'नई कहानियां' में, 'हिंदी टाइम्स' में नौकरी की.

१९६३ में हिंदी-उर्दू 'ब्लिट्ज़' के संपादक मुनीश सक्सेना ने मुंबई बुला लिया. तब से १९९३ तक याने पूरे ३० साल 'ब्लिट्ज़' में रहा, पहले सहायक संपादक के तौर पर फिर संपादक के तौर पर, अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू, मराठी, ब्लिट्ज़ के मुख्य संपादक थे श्री आर.के.करंजिया.

• 'ब्लिट्ज़' से आपने क्या पाया और क्या खोया?

पाया ही पाया, खोया कुछ भी नहीं. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्लिट्ज़ (हवाई) हमला और ब्लिट्ज़ क्रीग (तूफ़ानी हमला) शब्द प्रचलित हुआ था. आर.के.करंजिया ने अपने साप्ताहिक अख़बार का यह नाम चुना था क्योंकि वह अंतर्राष्ट्रीय फासीवाद, साम्राज्यवाद और हमारे देश में लगभग उन्नीसवीं सदी ही से राष्ट्रवाद के समानांतर प्रवाहित संप्रदायवाद, कट्टरतावाद के ख़िलाफ़ एक ज़ोरदार मुहिम था. जुझारू मोर्चा था, संवादों का प्रतिवादों का मुखर मंच था. अंग्रेजी हिंदी और उर्दू में छपता था ब्लिट्ज़, बाद में मराठी में भी निकला और तत्कालीन प्रगतिशील सोच और आंदोलन की मज़बूत लौह-लेखनियां उससे लगातार जुड़ी रहीं. उस मायने में ब्लिट्ज़ एक आंदोलन था. कैफ़ी आज़मी, ख़्वाजा अहमद अब्बास के नियमित कॉलम उसमें होते थे. देश के मज़दूर-किसान आंदोलनों का वह पक्षधर था और हर प्रकार की शोषणमूलक सरमायादारी का विरोधी. ब्लिट्ज़ से जुड़े होने का मतलब ही था प्रगतिशील, जनवादी आंदोलन से जुड़े होना और उसका यह भी मतलब था कि आप हमेशा-हमेशा के लिए कथित दक्षिणपंथियों की नज़रों में ख़तरनाक और अविश्वसनीय क़रार कर दिये जायें. मुझे अपनी ज़ाती ज़िंदगी में इसका ख़ामियाज़ा भुगतना पड़ा था कि न्यूयॉर्क स्थित भारतीय विद्याभवन में भारतीय साहित्यकारों को निमंत्रित किया तो गोपालदास 'नीरज', प्रभा ठाकुर और मेरी पत्नी को तो अमरीका जाने का वीसा मिल गया पर मुझे शुरू-शुरू में नहीं मिला, बड़ी क़ाग़ज़ी कार्रवाइयों के बाद मिला. यहां तक कि अभी-अभी एक साल पहले हुए विश्वहिंदी सम्मेलन में भी न्यूयॉर्क जाने का वीसा मुझे नहीं दिया गया जबकि मैं महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी का कार्याध्यक्ष था और

हूं. मीडिया में ज़ोरदार प्रतिवाद उठने के बाद मुझे वीसा दिया गया. असल में इन घटनाओं को मैं ख़ामियाजा, नहीं पुरस्कार ही मानता हूं. क्योंकि मुझे खुशी है, गर्व है कि मैं देश की आज़ादी के बाद, जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हुए युगांतरकारी विकास-कार्यों को प्रोत्साहन देनेवाले, बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों के टुच्चे कारनामों का भंडाफोड़ करनेवाले और नामी गिरामी तथाकथित जननेताओं को बेनक़ाब करनेवाले अख़बार से जुड़ा रहा. आज के सारे टी.वी.चैनल मिलकर बारह-बारह घंटों में भी जो धमाकेदार और सनसनीख़ेज ख़बरें नहीं दे पाते वह बिलट्ज सप्ताह में एक बार प्रकाशित होकर देता था. छोटे-छोटे शहरों में तो छोटे-छोटे वाचनालयों में एक 'ब्लिट्ज़' आता था और युवाओं का समुदाय इकट्ठा होकर उसका वाचन करता था.

• 'ब्लिट्ज़' को कुछ लोग पीत पत्रकारिता का हिमायती भी तो कहते थे? आर.के.करंजिया की अख़बारी दुनिया में छवि क्या थी?

वह डरे हुए लोगों का बेबुनियाद आरोप था. आर. के. करंजिया सिर्फ़ पत्रकार नहीं थे, वे सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त क़लमकार थे. विश्वभर के राजनेताओं, जननायकों से उनका सीधा संपर्क-संबंध था. रूस, युगोस्लाविया, मिस्र, ईरान, कोरिया आदि देशों की समस्याएं भी 'ब्लिट्ज़' की सोच का हिस्सा थीं. आप सोचिए, वह बांडुंग सम्मेलन का, पंचशील का ज़माना था. फिर चीन द्वारा किये गये विश्वासघात का, नेहरू के भ्रमभंग का ज़माना आया. फिर लाल बहादुर शास्त्री, ताशकंद समझौता, इंदिरा गांधी के तेजस्वी नेतृत्व का ज़माना आया, राजीव गांधी के भारत को २१वीं सदी में ले जाने की तैयारियों का ज़माना आया. इन सबके दौरान आर.के.करंजिया प्रगतिशील, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक व्यक्तियों, शक्तियों के साथ रहे और उनकी टीम भी अपने को मोर्चे पर जूझ रही फ़ौज ही मानती रही. आप कल्पना कीजिए उस ज़माने में टाइम्स ऑफ इंडिया के पास बड़ी आलीशान इमारत थी. इंडियन एक्सप्रेस भी बड़ी भव्य इमारत से प्रकाशित होता था और ब्लिट्ज प्रकाशित होता था फाउंटेन की एक तंग गली,कावसजी पटेल स्ट्रीट की एक पुरानी इमारत के, सिर्फ़ एक मंज़िल में बने चंद कमरों से और उसकी साप्ताहिक सुर्ख़ियों का देशभर के और विदेशों तक के लोगों को इंतज़ार रहता था. संसद के सत्रों में उसे उद्धृत किया जाता था. मैं नमन करता हूं आर.के.करंजिया के तेज़ तर्रार पर उदात्त व्यक्तित्व को जो हमारा मालिक नहीं, 'बॉस' नहीं, हमसफ़र और रहबर था, हम सब कॉमरेड इन आर्म्स थे.

• आपने अपना 'नूतन सवेरा' साप्ताहिक ब्लिट्ज की परंपरा में ही प्रकाशित करना शुरू किया?

हां भी और नहीं भी. 'ब्लिट्ज़' से १९९२ में रिटायर होने के बाद १९९३ में मैंने अपना साप्ताहिक 'नूतन सवेरा' प्रकाशित करना शुरू किया. कुछ लोगों को यह लगा कि 'ब्लिट्ज' के मुक़ाबले में, उसे बाज़ार में पछाड़ने के लिए मैंने यह अख़बार निकाला जो सही नहीं है. मेरे अभिन्न मित्र स्वर्गीय डॉ. राम मनोहर त्रिपाठी और अन्य अनेकानेक मित्र चाहते थे कि नये हालात में नये माहौल में उठ रहे मसलों को ध्यान में रखते हुए हिंदी का एक ऐसा साप्ताहिक प्रकाशित किया जाये जिसमें समकालीन सोच का भी प्रतिनिधित्व हो सके. समाचारों, टिप्पणियों के अलावा साहित्य-संस्कृति का भी पृष्ठ हो, घर परिवार से जुड़ी बातें भी हों. थोड़ा-सा मनोरंजन भी हो. आपको ध्यान होगा तब तक देश के बड़े-बड़े प्रकाशन गृहों से निकलनेवाली हिंदी की साप्ताहिक, पाक्षिक पत्रिकाएं लगभग बंद हो रही थीं. पढ़ने-लिखनेवाला एक बड़ा पाठक वर्ग अपने को वंचित पा रहा था, घर परिवार में भी पत्रिकाओं का अभाव महसूस किया जाने लगा था सो 'नूतन सवेरा' एक व्यापक पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर शुरू किया गया जिसमें वह सब था जो 'ब्लिट्ज' में था पर उसके अलावा भी बहुत कुछ था.

सन २००२ में आर्थिक मजबूरियों की वजह से नूतन सवेरा का प्रकाशन स्थगित किया गया और २००७ में वह फिर से प्रकाशित होने लगा.

पर अब का 'नूतन सवेरा' कुछ नये कलेवर में दिख रहा है. यह कहना ज़्यादा सही होगा कि कलेवर तो वही रह गया है पर उसका हृदय बदल गया है. सोच एकदम १८० डिग्री बदली हुई दिखती है. उसमें धर्मस्थान, धर्माधिकारी, धर्मग्रंथों का अनवरत प्रकाशन हो रहा है.

• आपके पुराने प्रशंसकों को आशंका हो रही है कि लाल सलाम वाले नौटियाल जी का कहीं 'भगवाकरण' तो नहीं हो गया?

राजम जी, रंग-भेद का तो मैं कट्टर विरोधी हूं. मैंने कभी किसी रंग को अपने पर हावी होने ही नहीं दिया तो फिर उसके उतरने और किसी और रंग के चढ़ने का सवाल ही कहां उठता है. 'नूतन सवेरा' में धर्मस्थान, धर्मसंस्थान, धर्मग्रंथ और धर्माचार्यों का विवरण-विश्लेषण छपने लगा है तो इसीलिए कि मुझे लगता है कि धर्म की ग़लत धारणाएं प्रस्तुत करने, प्रचारित करने से ज़्यादा

ग़लतफ़हमियां और अंधविश्वास पनपते हैं सो उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में रखना भी मेरे सामाजिक दायित्व का ही एक विस्तार है. 'सरिता' पत्रिका में विश्वनाथ धर्म के एक आयाम को प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार से 'नूतन सवेरा' धर्म के अन्य आयामों को प्रस्तुत करता है.

• आप केदारनाथ-बद्रीनाथ मंदिर समिति के अध्यक्ष भी रहे?

बिल्कुल ! मैं सन २००२ से २००५ तक उस पद पर रहा, उसका दर्जा राज्यमंत्री का सा था. उस दौरान मंदिर के रखरखाव, परिसर के अन्य मंदिरों के जीर्णोद्धार, तीर्थयात्रियों के लिए अतिरिक्त सुविधाओं की व्यवस्था जैसे अनेक कार्यों की ज़िम्मेदारी मैंने संभाली और यह कार्य उसी लगन और परिश्रम से किया जैसे अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं का करता आया हूं. इस समय मैं महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी का कार्याध्यक्ष हूं तो हमने पिछली अक्तूबर को एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर का सर्वभाषा सम्मेलन बड़ी सफलतापूर्वक आयोजित किया. असल में धर्म और उससे जुड़े साकार तत्व हमारे जीवन का, समाज का एक अभिन्न अंग हैं उनकी देख-रेख, पोषण हमारा कर्तव्य है. हमारे ही अस्तित्व के लिए आवश्यक है वैसा करना. 'धर्मो रक्षति रक्षितः'- धर्म की रक्षा करो तो धर्म आपकी रक्षा करता है

• नौटियाल जी कहा जाता है, 'महाजनो येन गतः सः पंथः' समाज के सम्माननीय जन जिन राहों पर चलते हैं या दिखाई पड़ते हैं उसे ही सामान्य जन सही रास्ता मान लेते हैं क्योंकि धर्म की गूढ़ परिभाषाएं विद्वानों के तर्क-वितर्क उसकी बुद्धि से परे होती हैं. मैं आपके उन दिनों की साक्षी हूं जब आप हेमवतीनंदन बहुगुणा की कॉन्ग्रेस फॉर डेमोक्रेसी/डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टी/लोकदल का परचम लेकर झोपड़पट्टियों को बचाने के लिए जेल भरो आंदोलन का नेतृत्व करते थे, बिहार के मुख्यमंत्री जगन्नाथ मिश्रा के प्रेस कानून के ख़िलाफ़ मुंह पर काली पट्टी बांधकर निषेध मोर्चा निकालते थे. अब आप श्रीमद्भागवत कथा और रामकथा के आयोजकों में दिखते हैं क्या यह पाली बदलना नहीं है?

नहीं, क़तई नहीं. लोकतांत्रिक, समाजवादी मूल्यों को मानने, दलितों-शोषितों के लिए संघर्ष करने और धर्म के लोकमंगलकारी रूप का प्रचार-प्रसार करने में कोई विरोध/विपर्यय नहीं है. मैं वर्ल्ड श्रद्धा फाउंडेशन नामक एनजीओ से भी जुड़ा हूं जो पृथ्वी पर फैल रहे भयावह पर्यावरणीय प्रदूषण के ख़िलाफ़ भी लड़ रहा है और समाज में फैले दुराचार, भ्रष्टाचार के पर्यावरण के ख़िलाफ़ भी.

• आदरणीय नौटियाल जी, उत्तराखंड पौड़ी गढ़वाल के मसणा गांव के हिमालयी पर्वतीय स्थल से सागरतटीय मुंबई महानगरी तक की आपकी कर्मयात्रा की कहानी लगभग स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक सचेत, ज़िम्मेदार, जुझारू पीढ़ी का सफ़रनामा है. हम आभारी हैं कथाबिंब पत्रिका की ओर से कि आपका व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी बड़े विधायक रूप से हमारा मार्गदर्शन कर रहा है.

श्री नंदकिशोर नौटियाल,

सं.: नूतन सवेरा, मंत्री कॉर्नर,
गोखले रोड (सा.), दादर (प.), मुंबई-४०००२५
फोन.: ९८२११५२९३९

डॉ. राजम नटराजन पिल्लै

फो. : ९८२०२२९५६५

लघुकथाएं

आदमीपन -१

आलोक कुमार सातपुते

उस मोटरसायकल सवार को काट खाने के उद्देश्य से उसके पीछे दौड़ते हुए कुत्ते को इस बात का अहसास ही नहीं हो पाया कि वह दूसरे कुत्तों के क्षेत्र में पहुंच गया है. साथ ही उस दूसरे क्षेत्र के कुत्तों को भी इस बात का भान नहीं रहा कि किसी दूसरे क्षेत्र का कुत्ता उनके क्षेत्र में प्रवेश कर गया है. वे भी उसके साथ दौड़ में शामिल हो गये.

.... अब जब मोटरसायकल उनकी पहुंच से काफ़ी दूर निकल गयी तब उन्हें वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ और वे उस पहले कुत्ते पर पिल पड़े.

आदमीपन-२

उसने दो कुत्ते पाल रखे थे. खाना खिलाते वक़्त वह उन्हें ध्यान से देखता, तो पाता कि, उनमें से एक कुत्ता तो पूरा खाना ख़त्म होने तक लगातार दुम हिलाता रहता, जबकि दूसरे कुत्ते की दुम जरा भी नहीं हिलती. उसे उस दूसरे कुत्ते से चिढ़ सी होने लगी और उसने उसे प्रताड़ित करना शुरू कर दिया. उसे प्रताड़ित करने में उसे बड़ा ही मज़ा आता और आख़िर में उसने उसे घर से निकाल बाहर किया और बाज़ार से दुम हिलानेवाला दूसरा कुत्ता ख़रीद लाया.

झंडा चौक, बजरंग नगर, रायपुर- ४९२००१

बाइस्कोप

कुछ यादें, कुछ बातें रजिंदर सिंह बेदी की

✍ सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी. वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए- इस्मत चुगताई, के. ए. अब्बास, रफ़िया मसूल उल अमीन आदि के बारे में.)

बचपन से ही मैं साहित्य की दीवानी रही हूं. जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी, बड़े-बड़े साहित्यकारों की क्लासिक रचनाएं पढ़ती गयी और इसी क्रम में पढ़ने के बाद रचनाकार के बारे में जानने की इच्छा भी तीव्र होती गयी. उन्हीं नामी साहित्यकारों में एक नाम और जुड़ गया जिसे रजिंदर सिंह बेदी कहते थे. उनकी बहुत सारी किताबें पढ़ते-पढ़ते तो जवान हुई थी और यदा-कदा ख़तों का सिलसिला भी चल निकला. बेदी साहब मुंबई से दिल्ली मुझे अपनी लिखी कई किताबें भेजते थे और मेरी प्रतिक्रिया चाहते थे, ऐसा उनका सुझाव था और वह यह भी कहते कि एन.एस.डी. पास करने के बाद मुंबई में आकर उनसे मिलूं. वह उन दिनों फ़िल्म 'दस्तक' बनाना चाहते थे और मैं उन दिनों रंगमंच की दीवानी थी.

समय अपनी द्रुतगति से चलता रहा और मेरा नसीब देखिए एन.एस.डी. पास करने के बाद वहीं की कैन्टीन में चाय पीते हुए मुझे मशहूर निर्देशक मणी कौल की फ़िल्म 'उसकी रोटी' में साइड हीरोइन का रोल दे डाला. फ़िल्म की कहानी मशहूर लेखक खुशवंत सिंह ने लिखी थी. मुंबई में 'उसकी रोटी' फ़िल्म के साथ मेरी किस्मत जुड़ गयी और मुझे बेदी साहब से मिलने का बहाना भी मिल गया.

मैं बेदी साहब की लेखनी की तो फ़ैन थी ही, उनसे मिलने के बाद उनकी भी फ़ैन बन गयी. आप एक सीधे-सादे, भले व्यक्ति थे. संवेदना से लबालब दूसरे का दुःख सुनकर रो देने वाले एक प्राणी. इंसानियत तो कूट-कूट कर भरी हुई थी. कभी कहते - बेटा, तुम्हारा चेहरा बड़ा नमकीन है, वक़्त आने पर हीरोइन का रोल दूंगा. मैं हंसती - सर क्या चेहरे पर भी नमक होता है! मुझे हीरोइन नहीं बनना. सुनकर खूब हंसते और कहते- पगली, तू बड़ी भोली है, मुंबई क्यों आ गयी, लौट जा दिल्ली, अभी भी समय है. हक़ीकत में मैं 'उसकी रोटी' फ़िल्म के बाद चार-पांच फ़िल्मों के पैसे वापस कर चुकी थी जिसमें मुझे हीरोइन बनाया था.

बेदी साहब रंगमंच से भी जुड़े थे, लिहाजा मैं भी जुड़ गयी. उनके ग्रुप में अचला सचदेव, नितिन सेठी, मनमोहन कृष्ण, भरत कपूर जैसे कलाकार उनके भक्त थे. आये दिन कहीं न कहीं किसी के घर पर महफिल जमती और बेदी साहब अपनी नयी रचना पढ़ते. 'एक चादर मैली सी' नाटक भारत के हर कोने में खेला जा चुका है.

बदनसीबी से फ़िल्म बनते- बनते जहां शूटिंग हो रही थी वहीं उसी गांव में हीरोइन गीताबाली को चेचक निकल आयी और वह चल बसी. यह ग़म बेदी साहब को जीवन भर सताता रहा कि काश फ़िल्म न बनती. बहुत तबाही हुई उन दिनों. फ़िल्म का पैसा तो डूबा ही, रुसवाई भी काफ़ी झेलनी पड़ी. हमेशा गुनहगार मानते थे अपने आप को इस बात के लिए. एक बार फ़िल्म 'दस्तक' के निर्माण के दौरान हीरोइन रेहाना सुल्तान बीमार पड़ गयी. शूटिंग नहीं करेंगे तो लाखों का नुकसान. मेरे कहने पर उन्होंने 'माही री मैं कासे कहूं' गाना मुझे डुप्लीकेट बनाकर शूट किया. ऐसे में आपका ढेर सारा पैसा बच गया. दस्तक फ़िल्म के बारे में भी मेरी सारी भविष्यवाणियां भी सही साबित हुईं तो तबसे मुझे बहुत मानने लगे थे.

कभी-कभी बेदी जी अपना कोई दुखड़ा मेरे सामने रखते तो मैं उन्हें मां समान राय देती. फ़िल्म 'आंखिन देखी' सच्ची घटना पर आधारित थी जिसमें मैं भी एक मुख्य पात्र निभा रही थी, अधर में ही लटक कर रह गयी. वह बीमार हो गये. उन्हें अपने ग़मों से छुटकारा न मिल सका. वह अक्सर बीती बातें याद कर ज़ार-ज़ार रोते और कहते- जानता हूं अपने ग़म खुद सेंकने चाहिए, लेकिन क्या करूं कमबख्त दिल है कि चैन नहीं लेने देता. बीमारी के दौरान ही उन्हें लकवा मार गया, और वह चल बसे. मैंने तो यहां तक सुना था कि उन्होंने आखिरी दिनों में खुदकुशी की भी कोशिश की थी. भगवान जाने सच क्या था!

आज खार वेस्ट में जहां कभी बेदी साहब का ऑफिस भी हुआ करता था, एक बड़ा सा शेरनुमा कुत्ता, हवेली जैसे घर की

देखभाल करता है. बड़े से घर में बेदी साहब की एक छोटी सी फ़ोटो भी किसी कोने में नहीं दिखी. घर के पास एक बड़ी तख्ती लगी है- 'रजिंदर सिंह बेदी मार्ग.'

जीवन कभी रुकता नहीं, चलने का नाम ज़िंदगी है. कभी बेदी साहब के घर के पास से गुज़रती हूं तो बेदी साहब की बहुत याद आती है- आंखें भर आती हैं. लगता है मानों आप हंसकर कह रहे हैं- काहे को मुंबई आयी, लौट जा पगली. मैं भारी मन से लौट पड़ती हूं यह सोचकर कि कहां लौट पायी. पर, मैं भी आपकी तरह यहीं की होकर रह गयी, और अब तो बुढ़ापे ने भी दस्तक दे दी है मेरे दरवाज़े पर.

द्वारा श्री साई नाथ एस्टेट ,
डी-३, विंग-बी, सह्याद्री नगर,
चारकोप,कांदिवली(प.), मुंबई- ४०० ०६७
मो. : ९२२३२०६३५६

लघुकथा

मैं जानती हूं, तुम्हारा यथार्थ !

डॉ. पूरन सिंह

विशाल और सुहासिनी दोनों ही कंप्यूटर इंजीनियर थे. उनके साथी तो उन्हें कंप्यूटर आइकॉन कहते थे. वे दोनों जब भी साथ होते उनमें प्रायः तर्क-वितर्क होता और कभी-कभी तो स्त्री पुरुष संबंधों और सामाजिक परिदृश्य पर भी चर्चा करते थे वे दोनों. विशाल सुहासिनी से कहता,'सुहा, मुझे ऐसी लड़की चाहिए जो खुले विचारों वाली हो, बोलने में, खाने-पीने और पहनने ओढ़ने में भी. स्पष्ट बोले चाहे किसी की कोई भी बात हो. पहनने में एकदम मॉडर्न यू नो, मिनी, स्लीवलेस एंड बैकलेस यू अंडरस्टैंड मी.' 'आई अंडरस्टैंड यू विशाल', सिर्फ इतना ही बोलती थी सुहासिनी और अंदर ही अंदर कहती, मैं तुम्हें समझती नहीं विशाल मैं तुम्हें प्यार भी करती हूं. संभवतः चाहत विशाल में भी थी. धीरे-धीरे चाहत ने प्यार का जामा पहन लिया और सही समय और मुहूर्त देखकर उन दोनों ने शादी कर ली थी. हर तरह से सक्षम थे दोनों इसलिए मां बाप ने कोई आपत्ति नहीं की थी.

सुहासिनी दुल्हन बनकर विशाल के घर आ गयी थी. विशाल खुश था. समय उड़ने लगा था तभी एक दिन विशाल बोला था, 'सुहा, एक बात कहूं.'

'एक नहीं, एक हज़ार कहो.'

'तुम अब नौकरी छोड़ दो. मैं काम करता हूं इतना सफीसिएंट है हमारे लिए.' बिल्कुल आदेशात्मक भाषा में बोला था विशाल.

'छोड़ दी,' समर्पिता सुहासिनी ने विशाल के गले में दोनों बाहें डाल दी थीं. अभी दो दिन भी नहीं बीते थे कि विशाल ने सुहासिनी से पूछा था, 'सुहासिनी एक बात पूछनी थी!'

'एक नहीं एक हज़ार पूछो.'

'तुम ये जो इतना तेज़-तेज़ बोलती हो. यू नो, मम्मी डैडी को अच्छा नहीं लगता. और हां मम्मा कह रही थी कि बहू ये जो मिनी पहनकर घूमती है उन्हें पसंद नहीं और प्लीज़ तुम ब्लैकलेस ब्लाउज़ तो बिल्कुल नहीं पहना करो. मम्मी चाहती है..... यू नो......' विशाल एक सांस में बोलता चला गया था.

'मम्मी क्या चाहतीं यह बात मम्मी जानें. मैं सिर्फ आपसे पूछती हूं, आप क्या चाहते हैं.' मम्मी का सहारा मत लो विशाल जिस दिन तुममें मेरी नौकरी छुड़वाई थी उसी दिन मैं जान गयी थी कि तुममे पुरुष जाग गया है. मैं चुप रही थी और अब, अब तो तुमने.....' सुनो विशाल, 'तुम्हें प्रेमिका तो इक्कीसवीं सदी की चाहिए लेकिन पत्नी.... पत्नी आज भी अठारहवीं सदी की. मैं जानती हूं तुम्हारा यथार्थ. मैं तुम्हारी खुशी के लिए सब कुछ छोड़ दूंगी. लेकिन तुम से एक बात पूछती हूं', सुहासिनी विशाल की आंखों में आंखें डालकर पूछने लगी थी.

...... विशाल मौन था.

'तुम मेरी खुशी के लिए क्या छोड़ सकते हो?' इतना कहने के बाद सुहासिनी फिर विशाल की आंखों में अपने प्रश्न का उत्तर तलाशने लगी थी और विशाल, वह तो अब भी मौन था.

२४०, फरीदपुरी, वेस्ट पटेलनगर,
नयी दिल्ली- ११०००८

पुस्तक-समीक्षा

बुद्धिजीवियों को गुदगुदाते हैं ये २३ व्यंग्य लेख

✍ म. ना. नरहरि

भगवान ने कहा था (व्यंग्य संग्रह) : **डॉ. सूर्यबाला**
प्रकाशक : ग्रंथ अकादमी, १६५९ पुराना दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२. **मू.** : रु. १५०/-

२००८ में अब तक प्रकाशित हिंदी साहित्य में व्यंग्य विधा पर केंद्रित पुस्तक 'भगवान ने कहा था', डॉ. सूर्यबाला के व्यंग्य उर्वरा मस्तिष्क की उपज ये २३ विभिन्न व्यंग्य-लेख हैं. ये लेख व्यंग्य से सराबोर हैं. उन बुद्धिजीवियों के लिए जो गुदगुदानेवाले तर्क-पूर्ण शालीन व्यंग्य को पढ़ना चाहते हैं.

प्रश्न उठता है कि शालीन व्यंग्य कहां, क्यों, और किन परिस्थितियों में उत्पन्न होता है. डॉ. सूर्यबाला स्वयं इस विधा को यों परिभाषित करती हैं, ''शायद सब्र का अंत ही व्यंग्य की शुरुआत होती है .''

''....व्यंग्य में 'व्यक्तिगत' कुछ नहीं होता, न राग-द्वेष और न क्षुद्रता-संकीर्णता ही.''

''.... व्यंग्य का यह जुनून जब सिर पर सवार होता है तो वह ग़लत चीज़ों और व्यवस्था के प्रतिरोध के लिए उकसाता है और बेचैन तो करता ही है, व्यक्ति को एक किस्म की बेख़ौफ़ी भी सौंपता है. और कुंठा-मुक्ति का तो अचूक नुस्खा है व्यंग्य......''

''.... व्यंग्यकार तो पैदाइशी ही होता है. और वह भी व्यंग्य-कर्म में तभी प्रवृत्त हो सकता है जब उसकी कुंडलिनी जागृत हो...''

और डॉ. सूर्यबाला की जागृत कुंडलिनी भ्रष्टाचार का नमूना भगवान के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करती है- ''मेरे इस मंदिर का सोने का कलश कब से टूटा हुआ है और मुझे अच्छी तरह मालूम है कि चढ़ावा इतना तो आता ही है कि कलश पर सोने का पत्तर चढ़वा दिया जाये. लेकिन पुजारी सब आपस में ही बांट-बांटकर खा जाते हैं. प्रबंध न्यासी भी इसमें काफ़ी सक्रिय भूमिका निभाते हैं. और फिर प्रेस विज्ञप्तियों के सहारे सरकार तक अपनी गुहार पहुंचाते हैं कि मंदिर निरंतर घाटे में जा रहा है, अनुदान की राशि बढ़ाई जानी चाहिए.''

एक समकालीन लेखक के पत्रोत्तर में कहती हैं.... ''तुम्हारा पत्र पाकर मैं हैरान होकर उसे उलट-पलटकर देखती हूं कि वह किसी हिंदी रचनाकार का हिंदी रचनाकार को ही लिखा गया पत्र है न. अथवा भूलवश किसी अकादमी अध्यक्ष, संस्थान सचिव, पुरस्कार ट्रस्ट के संयोजक, अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलनों के आयोजक को लिखा गया पत्र मेरे पास आ पहुंचा है, क्योंकि ऊंचे क़द के लेखक तो इसी श्रेणी के लोग माने जाते हैं. अस्तु.''

हिंदी सम्मेलनों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर संपन्न करनेवालों के प्रति डॉ. सूर्यबाला व्यंग्य करती हैं- ''सबसे बड़ी बात, हिंदी के विकास और प्रगति के लिए विदेशों से उपयुक्त जगह कोई दूसरी हो ही नहीं सकती. ये विदेश हिंदी लेखकों के लिए काबा-कैलास हैं, मक्का-मदीना हैं. चारों धाम हैं.''

हिंदी लेखकों को मिलनेवाले पुरस्कार-मेले की उत्तर आधुनिकता पर आयोजकों पर व्यंग्य करते हुए कहती हैं.... ''उदास, बीमार और निरुपाय दीखते लेखकों के पास जाकर वे विनम्रतापूर्वक पूछते कि हे लेखकगण! आप क्यों हताश हैं? आपको जो भी पुरस्कार चाहिए, हमें निस्संकोच बताइए न. आपके लिए मरणासन्न, रोगाच्छन्न अथवा शोकमग्न, भंग आदि पुरस्कारों की भी व्यवस्था है.... आपके मन मुताबिक इन पुरस्कारों के नाम और स्वरूप भी बदले जा सकते हैं.''

जब डॉ. सूर्यबाला आधुनिक स्त्री के ड्रेसकोड की बात कहती हैं ता वह जन-आकांक्षा का 'टाइटल-सॉन्ग' लेख में कहती हैं-''... इस दिशा में नयी पीढ़ी की चैतन्य, जागरूक और समर्थ स्त्रियों द्वारा उठाये गये क़दमों की जितनी प्रशंसा की जाये, कम है. कैसे भी फटे-चटे, सिले-अधसिले, बेतुके और फूहड़ तक कपड़े पहनने में इन्हें महारत हासिल है. बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि न पहनने में महारत हासिल है. शर्म? वह तो अब ठीक-ठाक कपड़े पहननेवाली स्त्रियों को आती है; क्योंकि राष्ट्र के विकास में ऐसी स्त्रियों का कोई योगदान ही नहीं. न उन्होंने सौंदर्य प्रतियोगिताओं के मंच से ग़रीबों की सेवा का व्रत ही लिया, न अपने देह-दर्शन के हवाले से मन की सुंदरता, मस्तिष्क की उर्वरता और भारतीय नारी की गरिमा को प्रतिष्ठित ही किया है.''

लेख 'स्त्री-उन्मुक्ति के उपलक्ष्य में....' के अंतर्गत स्त्री की उन्मुक्ति को इस प्रकार कहती हैं-''... समय क्या मांगता है? समय, समर्थ, जागरूक स्त्री मांगता है. समर्थ स्त्री कौन है? समर्थ स्त्री वह है जो बिकनी पहनकर सारी दुनिया में शांति और भाईचारा का संदेश पहुंचाती है.

'जड़ों से जुड़ने का सवाल' लेख का एक अंश देखिए, ''... लेखक कलाकार, नेता-अभिनेता में से कोई टेलिविजन पर

हुआ तो अपने साक्षात्कारों के दौरान सिर्फ अपने रूट्स और ट्रेडिशंस की बातें करेगा, इंडियन वैल्यूज की बोली लगायेगा. ज़्यादा अंग्रेजी और बहुत कम हिंदी बोलेगा....

डॉलर कमाने के चक्कर में विदेश गये लोगों की स्थिति का वर्णन कुछ यों करती हैं डॉ. सूर्यबाला - ''... हमारे यहां पुरानी, सेकंडहैंड चीज़ों की कोई कीमत नहीं, जगह नहीं. हम 'यूज एंड थ्रो' की थ्योरी में विश्वास करते हैं, टायलेट पेपर से लेकर इनसानी रिश्तों तक में. तुम ग़रीब मुल्कों के लोग हो. तुम्हारे लिए ये चीज़ें नियामत हैं, तुम ज़्यादा डॉलर बचा सकोगे. बहन की शादी के दहेज और मां के ऑपरेशन के लिए डॉलर भेज सकोगे. हमारी जूठन तुम्हारे लिए प्रसाद है.....'

प्रिय पाठकों इन २३ व्यंग्य लेखों के प्रत्येक लेख में अनेक ऐसी लाइनें तथा पैराग्राफ हैं जो गुदगुदाते हैं. उन सबको यहां प्रस्तुत करना संभव नहीं है परंतु फिर भी कुछ चुनी हुई पंक्तियां मैं प्रस्तुत कर रहा हूं-

''....साहित्य को समाज का ऐसा दर्पण समझा जाता है कि प्रायः समाज को अपनी बदशक्ली पर कोफ़्त होने लगती है और दर्पण को अपने दर्पण होने की अभिशप्त नियति पर......''

''साठ का हुआ लेखक किसी विषय पर अपनी स्पष्ट सहमति या असहमति कभी नहीं देता. वह इन जंजालों से अपने आपको ऊपर उठा हुआ महसूस करता है.... साहित्य के सरोवर से अनवरत पानी खींचता वह कमलवत् खिला रहता है.''

''मुझे मालूम था कि हिंदी के प्रति हिंदुस्तानियों के दिल में प्रेम और 'क्रेज़' पैदा करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि पहले उसे फॉरेन का बना दिया जाये, फिर उसे फॉरेन से 'इंपोर्ट' या हो सके तो 'स्मगल' किया जाये....''

''.... सास कुछ भी बोले, जवाब में सिर्फ म्याऊं कहना है. और जेठानी के पैर तो छोड़ने ही नहीं हैं. ससुराल के जंगल का सबसे खूंख्वार और आदमखोर जानवर यही होता है और ननद मीठी छुरी होती है....''

''.... किसी भी व्यक्ति के किसी समारोह में अध्यक्ष बनाये जाने की स्थितियां जितनी हैरतअंगेज और रोचक होती हैं, अन्य व्यक्तियों के अध्यक्ष न बन पाने की स्थितियां उतनी ही मार्मिक. लेकिन सर्वाधिक दयनीय वह स्थिति होती है. जब खुद बनना चाहते हुए भी शर्म-संकोच अथवा लोक-लाजवश या फिर अन्य मूढ़ व्यक्तियों के अज्ञान अथवा दुष्ट व्यक्तियों के मसखरेपन के कारण कोई व्यक्ति किसी दूसरे को अध्यक्ष बनाने के लिए बाध्य होता हो.''

''.... इतने दिनों साहित्य पैदल चलना लगभग भूल गया था और कारों के चुनाव में भी वह खासा सेलेक्टिव हो गया था. टोयोटा और होंडा सिटी जैसी गाड़ियों के नाम अब साहित्य के साथ फ़ख्र से जुड़ने लगे थे. बाकायदा होड़ लगने लगी थी कि देखें इस सम्मेलनवाले साहित्य के गंगावतरण में सिविल लाइन की कोठीवाला भगीरथ समर्थ होता है या टेरॅस गार्डेनवाला.''

''.... मुंह में लेमनचूस था, नींबू के अर्कवाला. साथ में पति. दोनों ज़्यादा-से-ज़्यादा दांत खट्टे कर सकते हैं....''

''....अब कुत्ते का रुतबा आदमी से नहीं है, बल्कि आदमी अपने रुतबे और स्टेटस के लिए कुत्ते का मोहताज हैं, जैसे हर भारतीय अंग्रेजी का....''

''अब आप सुखी और सूख गया है पानी जिन आंखों का, ऐसी सूखी आंखों से देखिए कि हमने कितना ख़ूबसूरत मायालोक रचा है भारतीय स्त्री, माफ़ कीजिए, इंडियन वूमन के लिए. रंगारंग सपनों से भरपूर पैकेज लिये एक-से-एक एलबमों, रीमिक्सों, सीरियलों और फ़िल्मों की दुनिया कदमबोसी के लिए हाजिर हैं. ड्रेस डिजाइन, ज्वैलर और छोटे बड़े कारोबारियों से लेकर विज्ञापन की सारी शक्तियां खुलेबाज़ार में डेरा डालकर बैठीं हैं. लक्ष्य एक पथ अनेक. हर तंबू में स्त्री विमर्श चल रहा है. उसकी ख़ूबसूरती की सामर्थ्य आंकी जा रही है. उसके शरीर की संभावनाओं पर दूरबीनें टिकी हैं. अनुसंधान केंद्र खुले हैं. प्रयोगशालाओं में ढल रही है भारतीय स्त्री.''

समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं विद्रूपता को इस पुस्तक के जिन २३ लेखों में बांटा गया है उन सभी में एक ऐसे एलीट वर्ग की छिछालेदर की गयी है जो धन पिपासा, धन कुबेर, साहित्य अनुरागी, विदेश के भक्त, साहित्य संस्थानों के आयोजक, पुरस्कारों का वितरण, लेखकों का स्वयं सम्मान कराने के दावे आदि हैं. विषय अनेक हैं. डॉ. सूर्यबाला की अति सूक्ष्म दृष्टि ऐसे विषयों को उजागर करने में अधिक पैनी सिद्ध हुई है. व्यंग्य को पैना बनाने में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने में भी वे चूकी नहीं हैं.

पुस्तक का आवरण आकर्षक है. पुस्तक संग्रहणीय एवं भेंट देने योग्य है.

'श्रीपाल वन', नं.-एक, सी-विंग/जी-दस,
खारोडी नाका, विरार- ४०१३०३ (महा.)

ब्रितानी ज़िंदगी की भीतरी परतों को खोलतीं कहानियां

✍ युगेश शर्मा

वह रात और अन्य कहानियां (क.सं.)ः **उषा राजे सक्सेना**
प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली ११०००२
मू.ः २००/-

यह रेखांकित करने योग्य तथ्य है कि भारतीय मूल के लेखक चाहे लंदन में हों अथवा न्यूयॉर्क में, इन दिनों खूब और अच्छा लिख रहे हैं. इनमें से कुछ ऐसे हैं जो भारत की माटी से प्रेरणा एवं ऊर्जा प्राप्त कर, भारतीय लेखकों से भी कुछ क़दम आगे चलते हुए दिखाई दे रहे हैं. हमें यह स्वीकार करने में कतई संकोच नहीं करना चाहिए कि हिंदी को विदेशी धरती पर आगे बढ़ाने और यशस्वी बनाने में इन प्रवासी साहित्यकारों की अहम भूमिका रही है. भारतीय मूल के प्रवासी लेखकों की एक लंबी फेहरिस्त है, जो डॉ. कृष्ण कुमार से प्रारंभ होकर बहुचर्चित कथाकार उषा राजे सक्सेना तक पहुंचती है. किसी संवेदनशील रचनाकार का एक ही देश में ३० साल का सतत प्रवास खास मायने रखता है. उषा राजे जी के कहानी संग्रह 'वह रात और अन्य कहानियां' में संग्रहित कहानियां गोरे महाप्रभुओं की धरती, जिसको संग्रह में 'प्रॉमिस लैंड' कहा गया है, की स्थिति और परिस्थिति को निष्ठा के साथ आत्मसात करने के पश्चात लिखी गयी हैं. ऐसा लगता है इन कहानियों में ब्रिटेन के भूगोल, इतिहास और जीवन मूल्यों के साथ-साथ वहां की राजनीति एवं प्रशासन व्यवस्था भी अपने संपूर्ण वजूद के साथ समाहित हो गयी है. कथाकार ने कहानियों में जो 'डिटैल्स' दिये हैं, वे उनकी अध्ययनशीलता को रेखांकित करने के लिए काफ़ी हैं.

इन कहानियों को पढ़कर एहसास होता है जैसे प्रवासी कथाकार ने ब्रिटेन में अपने तीन दशक के प्रवासी जीवन में वहां की कम से कम तीस ज़िंदगियों को शिद्दत से जी लिया है. तब ही तो संग्रह की हर कहानी एक चश्मदीद गवाह के बयान सी लगती है. अपनी कर्मभूमियों के बारे में बहुत से अन्य प्रवासी भारतीय लेखक भी लिख रहे हैं, लेकिन 'वह रात और अन्य कहानियां' जैसी समदर्शिता, निष्पक्षता और वैसा खरापन कम ही देखने को मिल पाया है. सच बात तो यह है कि इस संग्रह की लेखिका ने अंग्रेज कौम और ब्रिटेन में आ बसे अन्य समुदायों के लोगों की महकती और दहकती ज़िंदगी के प्रायः हर कोने को खोलकर इन कहानियों में पाठकों के सामने रख दिया है. 'प्रॉमिस लैंड' के इस पक्ष को दिखाने का साहस अब तक हमारे प्रवासी लेखक इतनी प्रखरता के साथ नहीं कर पाये थे, क्योंकि इस साहस के पीछे खतरे भी कम नहीं हैं. उषा राजे जी ने यह साहस दिखाया, उसके लिए वे प्रशंसा की अधिकारी हैं. उषा राजे जी अपनी कहानियों में भारतीय जीवन मूल्यों से अनुप्राणित होने के बावजूद अपनी कर्मभूमि के नमक के हक के प्रति भी पूर्णतः जागरूक प्रतीत होती हैं. उन्होंने कहानियों में ब्रिटेन की नकारात्मक बातों को रेखांकित करने के साथ वहां की सकारात्मक बातों को उजागर करने में भी पूरी रुचि ली है. 'वह रात' और 'तीन तिलंगे' कहानी इसका प्रमाण हैं. स्त्री जीवन की कई बुनियादी सच्चाइयों को इन कहानियों में रेखांकित किया गया है. स्त्री चाहे इंग्लैंड की हो या भारत की, वह हरदम मुस्कान बांटती है और उसके एवज में मुस्कान ही चाहती भी है. जब उसे लक्षित पुरुष से यह मुस्कान नहीं मिलती तो वह विवश होकर उसको पाने की खातिर वैकल्पिक व्यवस्था तलाशती है. संग्रह की कहानियों में स्त्री का यही सच उभरकर सामने आया है.

कथाकारा ने इन कहानियों के माध्यम से आज के ब्रिटेन और वहां बसे अन्य देशों के प्रवासियों को आइना दिखाया है. संग्रह की प्रथम कहानी 'एलोरा' की नायिका एक प्रवासी बंगाली भारतीय परिवार की साहसी और मुखर लड़की है. परिवार का मुखिया अंग्रेजों की 'आलमाइटी इमेज' से आक्रांत और दब्बूपन से ग्रस्त है. अन्याय और दुराचार की तरफ से आंख मूंद लेने का रवैया है उसका. दूसरी तरफ स्वयं को 'ब्रिटिश इंडियन' माननेवाली उसकी किशोरी बेटी एलोरा अपनी सहेली पारुल के साथ उसी के घर में हुए पाशविक बलात्कार के अपराधियों को दंडित कराने पर आमादा है. यह कहानी ब्रिटेन और भारत दोनों में एक सी घटती प्रतीत होती है. कहानी की नायिका एलोरा अंततः अपने दब्बू बाप के मन में यह एहसास जगाने में सफल होती है कि लड़के के समान लड़की की बात को भी महत्व दिया जाना चाहिए. वह बिजली का करंट सा मारती अपनी बेटी एलोरा में अपने दिवंगत बेटे की छवि देखता है. यह कहानी नारी स्वातंत्र्य की नहीं, अपितु नारी जागरण की पक्षधर है. 'तीन तिलंगे' कहानी बहुत दूर की बात करती है. यह कहानी अपने बच्चों को अनाथ बनाकर जिल्लत की ज़िंदगी जीने के लिए मज़बूर करनेवाले मां-बाप पर लानत भेजती है. तीन अनाथ किशोरों, हुड़दंगों पर केंद्रित है - यह कहानी. इन तीनों का मन अपनी-अपनी मां के प्रति घृणा और

आक्रोश से भरा हुआ है. अंततः यह कहानी युवा भटकाव को सही राह दिखानेवाली कहानी ठहरती है. 'शर्ली सिंपसन शुतुरमुर्ग है', संग्रह की तीसरी महत्वपूर्ण कहानी है, जो पाठकों को गुदगुदाती कम, कचोटती ज़्यादा है. कथाकारा ने इस सच को भी रेखांकित किया है कि आजकल लोग इतने अधिक आत्मकेंद्रित और निर्लिप्त हो गये हैं कि उनके आसपास घटनेवाली बड़ी से बड़ी घटना का भी संज्ञान नहीं लेते. कथाकार ने शर्ली सिंपसन की कहानी के माध्यम से ब्रितानी जीवन में आयी मूल्यहीनता पर करारा व्यंग्य किया है. संग्रह की कहानी 'डैडी' निश्चित ही बड़े मनोयोग से लिखी गयी कहानी है. देश और काल से परे यह कहानी अपनी जड़ों की ओर लौटने की बात करती है. कहानी की नायिका युवती को अपने जन्म-पिता एलियंद्रा के परिजनों से भेंट के बाद एहसास होता है कि दुनिया में वह अकेली नहीं है, उसकी भी जड़ें हैं.

'सलीना तो सिर्फ शादी करना चाहती है', एक युग सापेक्ष कालजयी रचना है. यह कहानी ब्रिटेन के उन अवैध नागरिकों की त्रासदी को बयान करती है, जो न तो वोट देने के अधिकारी हैं, न जिनके पास नेशनल इंश्योरेंस नंबर है और जिन्हें 'वेलफेयर स्टेट' के फ़ायदे भी नसीब नहीं हैं. इनको अपनी गृहस्थी बसाने के लिए काफी पापड़ बेलना पड़ते हैं. वे रात-दिन शोषण की चक्की में पिसते रहते हैं. कहानी उन लोगों के मुंह पर करारा तमाचा जड़ती है, जो इन दिनों लिव-इन-रिलेशनशिप और विवाह पूर्व यौनाचार की वकालत कर रहे हैं. कहानी की नायिका सलीना के माध्यम से कथाकारा ने विवाह संस्था के प्रति गहरी आस्था प्रगट की है. अपने प्रेमी के उकसाये जाने के बावजूद भी सलीना विवाह पूर्व यौनाचार के लिए तत्पर नहीं होती. मानव अंगों की तिजारत की घिनौनी सूरत को उजागर करके उषा राजे जी ने एक जागरूक रचनाकार होने का परिचय दिया है. युवा पीढ़ी का स्वच्छंद आचार-विचार आजकल विश्व चिंता के एजेंडे पर है. 'चुनौती' कहानी को उषा राजे जी ने इसी चिंता पर केंद्रित किया है. कहानी में प्रवासी समुदाय की मूल्यहीनता पर उंगली उठाते हुए बताया गया है कि वह किस तरह अपनी युवा पीढ़ी पर से नियंत्रण खोता जा रहा है. प्रवासी लोग पैसा तो ख़ूब जोड़ रहे हैं, परंतु अपने बच्चों को देशज संस्कारों से जोड़े रखने में नाकाम सिद्ध हो रहे हैं. प्रवासी भारतीय मिस्टर माथुर अपनी बेटी की अकादमिक सफलता को समारोहित करने हेतु पार्टी देते हैं. स्वच्छंदतावादी कुंवारी बेटी इसी पार्टी में अपने गर्भवती होने की घोषणा करती है. लगता है जैसे सारे प्रवासियों के सिर पर आसमान गिर पड़ा है. धन्यवाद की पात्र हैं उषा राजे जी कि उन्होंने प्रवासी भारतीयों की झूठी आत्ममुग्धता पर उंगली उठाने का साहस तो दिखाया. वैसे यह कहानी हम भारतीयों की बंद आंखें खोलने के लिए भी पर्याप्त है. कथाकार ने कहानी की नायिका युवा के माध्यम से एक अहम बात उठायी है. वे कहती हैं, 'यह ज़रूरी तो नहीं कि हर लड़की बैंक या किसी ऑफिस में काम करे. सबकी अपनी-अपनी पसंद होती है. उसे घर-गृहस्थी ही पसंद है तो लोगों को क्यों एतराज़ है ?'

आतंकवाद पर इन दिनों ख़ूब लिखा जा रहा है. यह लेखन पत्तों को पानी देने जैसा सतही लेखन है. संग्रह की कहानी 'अस्सी हूरें, शीराज मुनव्वर और जुलियाना' में उषा राजे जी ने उच्चकोटि के लेखकीय साहस का परिचय देते हुए पाठकों को समस्या की जड़ों से परिचित कराया है. कथाकार ने खुलासा किया है कि जीवन के उषा काल में सदगुणी और शांति दूत से दिखनेवाले नौजवानों को कैसे आतंकी बना दिया जाता है. आतंकवाद के बारे में कहानी में दिये गये संकेत एकदम साफ़ हैं. संग्रह की आठवीं कहानी है- 'रिश्ते'. अपने पिता के शक्तिशाली व्यक्तिव्य से आतंकित महत्वाकांक्षी बेटी एला की यह मार्मिक कहानी है. स्थापित और नवोदित व्यक्तित्व की टकराहट ने कहानी में काफ़ी रोचक स्थितियों का निर्माण कर दिया है. कहानी को पढ़कर सहसा विश्वास नहीं होता कि यह बाप-बेटी के वैचारिक संघर्ष की कहानी है. कहानी में मां-बाप को एक संदेश दिया गया है कि वे २१वीं सदी की अपनी बेटियों की महत्वाकांक्षाओं को सम्मान देना सीख लें, अन्यथा बड़ी छिछालेदर होगी. कहानी 'सवेरा' में कथाकार ने पीटर के माध्यम से खिलंदड़े किस्म के अंग्रेज पुरुषों का चरित्र प्रस्तुत किया है. ऐसे लोगों के सामने मूल्य और आदर्श नाम की कोई चीज़ नहीं होती. वे जीवन को निर्लिप्त भाव से भोगनेवाले 'नॉन कमीटल' नस्ल के लोग हैं. कहानी का नायक जवानी और ज़िंदगी को एक उत्सव की तरह जीने का ख्वाहिशमंद है. ब्रितानी युवा पीढ़ी के बीच की मित्रता के खोखलेपन को कहानी में कुशलता के साथ उजागर किया गया है. कहानी के नायक पीटर के आत्मचिंतन के माध्यम से युवा वर्ग को संदेश दिया गया है कि ज़िंदगी को संवारने के लिए निर्णय लेना पड़ता है, कुछ ख़ास करना पड़ता है.

'वह रात' इस कहानी संग्रह की दसवीं और अंतिम कहानी है. इसे विश्व साहित्य की अनमोल धरोहर माना जा सकता है.

कहानी में कई कोण, कई आयाम और कई रंग हैं. कहानी के प्रारंभ में कथाकार ने मासूम भाई-बहन के साहचर्य का जिस लहजे में चित्रण किया है वह आम भारतीय पाठकों को बिचकाता है. चूंकि कहानी ब्रिटेन की आबोहवा में लिखी गयी है, इसलिए इस प्रसंग पर विपरीत टिप्पणी देना न्यायोचित न होगा. 'वह रात' चार अनाथ बच्चों और उनकी पति विहीना मां एंजला के संघर्ष और उसके जीवन की त्रासदी की कहानी है. यद्यपि एंजला ज़िस्म फरोशी की आमदनी से चार बच्चों का पालन-पोषण करती है, लेकिन उसको रेड लाइट एरियाज़ की आम वेश्या की श्रेणी में खड़ी करके उसके अनथक जीवन संघर्ष और उसकी अप्रतिम जिजीविषा को नकारना न्यायसंगत न होगा. दांपत्य के मामले में एक बार पति की असामयिक मौत द्वारा और दूसरी बार द्वितीय पति की पलायनवादिता द्वारा ठगी गयी एंजला का जीवटपन प्रणम्य है. वह चाहती तो भगोड़े पति का अनुसरण करते हुए चार बच्चों की ज़िम्मेवारी से आसानी से मुक्ति पा सकती थी, किंतु उसने यह सरल रास्ता न चुनकर मुसीबतज़दा औरतों को नयी राह दिखाई है.

मैं ऐसा मानता हूं कि इस कहानी के माध्यम से उषा राजे जी ने ब्रिटेन की संवेदनशील और कुशल प्रशासन व्यवस्था की ख़ूबियों को भी रेखांकित किया है. अलसुबह सड़क पर एंजला की लाश मिलने से लेकर चारों बच्चों के पुनर्वास तक वहां की पुलिस ने जो अपनापन, स्फूर्ति और संवेदनशीलता दिखाई वह आजकल भारत में तो एक सपना हो गयी है. कहानी में पुलिस का सारा ऑपरेशन जिस सुनियोजित ढंग से चलता है वह पाठक को आनंदित कर देता है.

'व्यंकटेश कीर्ति', ११, सौम्या एन्क्लेव एक्सटेंशन, चूना भट्टी, भोपाल- ४६२०१६.

लघुकथा

पत्थर की आंख

डॉ. के.बी.श्रीवास्तव

मुरारी वर्मा नगर के चर्चित चित्रकारों में विशिष्ट स्थान रखते थे. उनकी प्रौढ़ावस्था लगभग पार हो चुकी थी. पिछले दो वर्षों से नगर में कोई चित्र प्रदर्शनी का आयोजन नहीं हुआ जिससे उनकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी थी. अभी तक वे तीन माह से मकान का किराया भी चुकता नहीं कर पाये थे, इसकी चिंता उन्हें अलग सता रही थी. मकान मालिक बच्चा पाठक कई बार किराये के लिए तकादा भेज चुके थे. पर वर्मा जी बेचारे करें तो क्या करें, उधार लेने की आदत उनकी थी नहीं, झूठ बोलना उनके संस्कार में नहीं था.

एक दिन अचानक रास्ते में वर्माजी की मुलाकात मकान मालिक बच्चा पाठक से हो गयी. वे बोले, ''वर्माजी आपके तो दर्शन ही दुर्लभ हो गये हैं. कितनी बार किराये के लिए आदमी भेजा पर किसी की आपसे भेंट होती ही नहीं. हद कर दी आपने.'' वर्माजी ने कुछ झेपते हुए, कुछ सकुचाते हुए कहा, ''क्या करूं पाठकजी इधर कुछ महीनों से रुपयों का प्रबंध नहीं हो पा रहा है. इसी के लिए कुछ भागदौड़ इधर ज़्यादा बढ़ गयी है और जब तक रुपयों का इंतज़ाम नहीं होगा तब तक मेरी परेशानी बनी रहेगी. मैं अति शीघ्र आपके बकाया किराये का भुगतान कर दूंगा.''

इस पर पाठक जी ने कहा, ''मैं आपकी सब मज़बूरी समझता हूं पर क्या करूं मैं भी तो किराये पर ही आश्रित हूं. साथ ही साथ उधारी का असर अन्य किरायेदारों पर भी पड़ता है.''

''वर्मा जी आप बहुत प्रसिद्ध चित्रकार हैं. मैं आज आपकी एक परीक्षा लूंगा, यदि आप सफल रहे तो सारा बकाया किराया माफ़, है मंजूर तो बोलूं.'' वर्मा जी ने कहा, ''ठीक है प्रश्न करें, प्रयास करूंगा कि सफल हो जाऊं.'' पाठक जी ने कहा, 'मेरी एक आंख पत्थर की है जिसे आज तक मेरी मां और डॉक्टर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता, आपको बस इतना बताना है कि मेरी दोनों आंखों में कौन सी आंख पत्थर की है?''

वर्मा जी ने बड़े गौर से दोनों आंखों को कुछ देर तक बड़ी गंभीरता से देखा, फिर शीघ्रता से कहा, ''जी आपकी बायीं आंख पत्थर की है.''

''आश्चर्य, घोर आश्चर्य ! कैसे पहचाना वर्मा जी ? आपने तो कमाल कर दिया,'' यह कहते हुए पाठकजी वर्माजी के हाथ अपने हाथ में लेकर पांच मिनट तक हिलाते रहे.

तब वर्माजी ने स्पष्ट करते हुए कहा, ''आपकी दायीं आंख में दुनिया भर की नफ़रत, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष की झलक तैर रही थी. जबकि बायीं आंख शांत, स्थिर रहकर दया और सहानुभूति प्रगट कर रही थी.''

पाठक जी इस उत्तर से इतने प्रभावित हुए कि वर्माजी के बकाये महीनों का सारा किराया माफ़ कर दिया.

निदेशक, जे.पी.आई.पी.मेडिकल साइंस, रोड नं ५, जूरन छपरा, मुजफ़्फ़रपुर-८४२००१

कविताएं

गर्दिश के दिन

✍ रमेश यादव

एक बार फिर
करवट ली ज़िंदगी ने
बड़ी तिरछी, बड़ी तीखी.
एक बार फिर
सैलाब उठा
भूचाल आया
बरसने लगा आंखों से नीर
जीवन बन गया पीर
कहां गये खुशी के वे दिन,
हिसाब लगाते
बाकी कितने हैं दिन?
टूट गये थे सपने
दफ़न हो गयी थीं आशाएं
काटे न कट रहे थे
गर्दिश के वे दिन.

तलाश रही थीं अंखियां
किसी देवदूत को,
शेष थी उम्मीदें
करने के लिए नेक काम,
सृजन के कुछ काम
खोये हुए दिनों की चाह
साथ थे अनुभव के दिन.
शायद इसीलिए
टिम-टिमा रहे थे नभ में तारे,
कूक रही थी कोयल बगिया में,
खिल रही थी कलियां फुलवारी में,
चहक रही थी गौरैया मधुबन में,
कोलाहल मन को
शांत कर रहे थे बचे हुए आशा के दिन.
एक ओर आशा की किरण

एक ओर निराशा की छाया
कश्मकश की मंझधार में
गोते लगा रही थी जीवन नैया इन दिनों.
एक मन कहता रुक जाओ,
एक मन कहता पार हो जाओ.
बहती सरिता,
बहता पवन
चलता मुसाफिर
नगर नगर, डगर-डगर
अंधेरे, घुटन, निराशा
पहलू हैं हार के,
संघर्ष करते
जीवनपथ पर
अकेला चला इन दिनों.
तब मिला ये आज का दिन.

४८१-१६१-बी विनायक वासुदेव, एन.एम.जोशी मार्ग, चिंचपोकली (प.), मुंबई-४०००११.

पानी में बादल-सा रखकर...

✍ आनंद शर्मा

अब तुम्हें मैं
आंख में
आंसू सा रखकर
भूल जाना चाहता हूं.
जानता हूं
तुम मुझे
अब न मिलोगी
ज़िंदगी की
डाल पर
अब न खिलोगी
अब तुम्हें मैं
मिट्टी में

रंगों-सा रखकर
भूल जाना चाहता हूं.
देखो मुझे
अब मंजिलें
पुकारती हैं
बीते क्षणों को
जड़ों से
उखाड़ती हैं
अब तुम्हें मैं
पत्थरों में
आग-सा रखकर
भूल जाना चाहता हूं.

यह न सोचो
मेरे लिए
तुम पूर्ण थीं.
तुम भी तो
बिन मेरे
अपूर्ण थीं,
अब तुम्हें मैं
पानी में
बादल-सा रखकर
भूल जाना चाहता हूं.

हकीम कन्हैयालाल मार्ग, २०९ कहरवान, बरेली- २४३००३

सुशांत सुप्रिय की कविताएं

एक अच्छी कविता

एक अच्छी कविता पढ़ना
ऐसा होता है जैसे
बेगानों की भीड़ में
मिल जाती है
एक आत्मीय हथेली.
अक्सर कविताओं की बाढ़ में
मैं छटपटा कर खोजता हूं
एक अच्छी कविता
ठीक वैसे ही
जैसे भीड़ में खो गया
घबराया बच्चा
ढूंढ़ता है हर चेहरे में
अपने मां-बाप का
भरोसेमंद चेहरा.
जैसे इस मतलबी युग में भी
कभी-कभार कोई भला आदमी
नि:स्वार्थ भाव से
मदद कर जाता है,
ठीक ऐसे ही आती है
एक बढ़िया कविता...
दुर्दिनों में संबल की तरह
बाढ़ में नाव की तरह
चिलचिलाती धूप में
घनी छांह की तरह.
जैसे बचपन में
गोद में ले कर
प्यार से मेरा सिर
सहलाती थी मां
ठीक वैसा ही
सुख देती है
एक अच्छी कविता
मुझे जीवन में.

लौट आऊंगा मैं

कलम में
रोशनाई-सा,
पृथ्वी पर
अन्न के दाने-सा,
कोख में
जीवन के बीज-सा,
लौट आऊंगा मैं.
आकाश में
इंद्रधनुष-सा,
धरती पर
मीठे पानी के
कुएं-सा
ध्वंस के बाद
नव-निर्माण-सा,
लौट आऊंगा मैं.
लौट आऊंगा मैं
आंखों में नींद-सा,
जीभ में स्वाद-सा,
थनों में दूध-सा.
ठूंठ हो चुके
पेड़ में
नयी कोंपल-सा,
बच्चे के
मसूड़े में
नये दांत-सा,
लौट आऊंगा मैं.
जैसे महाशंख से चल कर
शून्य तक लौट आती है
उल्टी गिनती,
जैसे जीवन लौट आता है
आसन्न-मृत्यु अनुभव करनेवाले
मरीज़ में,
वैसे लौट आऊंगा मैं
तुम्हारे जीवन में.
तुम एक बार
पुकार कर तो देखो.

ढेंचू- ढेंचू

मैं भी बढ़िया
तुम भी बढ़िया
दोनों बढ़िया
ढेंचू-ढेंचू
राग अलापे
जो भी हम-सा
वह भी बढ़िया
ढेंचू-ढेंचू
मेरा खूंटा
मेरी रस्सी
यही है दुनिया
ढेंचू-ढेंचू
हम भी गदहे
तुम भी गदहे
जग गदहामय
ढेंचू-ढेंचू
यदि तुम
हिन-हिन
करते हो तो
तुम घटिया हो
ढेंचू-ढेंचू.

✍ द्वारा श्री एच.बी.सिन्हा, ५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग,
बसंत रोड, नयी दिल्ली-११००५५.

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया 'कथाबिंब' की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, मनी ऑर्डर फॉर्म पर 'संदेश के स्थान' पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ-साफ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

दो ग़ज़लें

सुरेंद्र चतुर्वेदी

जो बनकर बस नहीं पाया वही घर हो गया हूं मैं,
किसी बेवा हथेली का मुक़द्दर हो गया हूं मैं.
मुसलसल प्यास ने दी बददुआएं जिस्म को मेरे,
भरी बरसात के मौसम में बंजर हो गया हूं मैं.
गमों की भीड़ हिंसा पर उतारू हो गयी ऐसे,
सुलगते शहर की चीख़ों का मंज़र हो गया हूं मैं.
यक़ीनन मुझको क़िस्मत ने तो क़तरा ही बनाया था,
मगर फ़ितरत मिली ऐसी समंदर हो गया हूं मैं.
बदन में मोम के अहसास हर लम्हा पिघलते हैं,
मगर महसूस होता है कि पत्थर हो गया हूं मैं.
हुनर सिखला दिया है दोस्तों ने सर फटाने का,
हर इक कंधे पे जो लग जाये वो सर हो गया हूं मैं.
बुझे दीये सरीखा जिस्म था मेरा अंधेरे में,
ये किसका ज़िक्र आते ही मुनव्वर हो गया हूं मैं.
अता मुझ पर भी होंगी रहमतें नूरे इलाही की,
इसी उम्मीद को लेकर सुखनवर हो गया हूं मैं.

गुमशुदा है ज़िंदगी का कारवां भी, और मैं भी,
रह गयी आधी-अधूरी दास्तां भी, और मैं भी
दस्तकें देने की कोशिश रायगां जायेंगी सारी,
अब नहीं खुल पायेगा मेरा मकां भी, और मैं भी.
तंग ज़ेहनों में कहां सिमटेंगे आख़िर हम बताओ,
दूर तक फैला हुआ है आसमां भी, और मैं भी.
पढ़ रहे थे आयतें आंखों में इक दूजे की लेकिन,
था बहुत ख़ामोश मेरा हमज़ंबां भी, और मैं भी.
चोंच में तिनके दबाकर तय सफ़र करता रहा मैं,
तब कहीं जाकर बना है आशियां भी, और मैं भी.
मेरी हिम्मत देखकर उसको पसीना आ रहा था,
थे सफ़र में साथ दोनों आंधियां भी, और मैं भी.
आशियां बारिश में जब तामीर मेरा हो रहा था,
ख़ैरमक़दम कर रही थीं बिजलियां भी, और मैं भी.

'ग़ज़ल', कुंदन नगर, अजमेर- ३०५००७

लघुकथा

चंद्रग्रहण

डॉ. सुरेंद्र गुप्त

'अरे..... उठो..... उठो, चलो जल्दी करो.... बस पंद्रह मिनट ही तो रह गये हैं ग्रहण लगने में, बारह तो बज ही चुके हैं.' पापा की एक ही आवाज़ में पिंटू, चिंटू, तथा टिंकू आंखें मलते-मलते उठे और खाद के खाली बोरे को काट-काट कर बनाये गये थैलों को अपने-अपने बाजुओं में टांग कर खड़े हो गये. सभी ने एक-एक थाली भी अपने अपने हाथों में ले ली. बस कुछ ही पलों में वे अपने मम्मी-पापा के साथ बाहर हो लिये.

बाहर निकलते ही नज़दीक की कॉलोनी में पहुंच कर उनके मम्मी-पापा ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया -'दान करो..... दान करो.... ग्रहण लग गया.... चंद्र ग्रहण लग गया, अन्न दान करो, पुण्य कमाओ पुण्य.' जैसे ही बच्चों ने अपने मम्मी-पापा को बोलते हुए सुना तो उनके भी मुखों से उसी प्रकार यंत्र चालित-सा निकल पड़ा -'दान करो... दान करो... ग्रहण लग गया .... दान करो.'

लोग अपने-अपने घरों से निकल कर एक का, या दो रुपये का सिक्का उनकी थालियों में डालने लगे. कोई-कोई गेहूं लाकर उनके थैलों में डालने लगा. बच्चे क्या करते, जैसे ही कोई उनकी थाली में रुपया-दो रुपया डालता, वह थाली में से उठा कर झट से अपनी फटी-पुरानी पैंट की जेब में बहुत संभाल कर डाल लेते. शीतकाल की शुरुआत हो चुकी थी. बच्चे, जो क्रमशः पांच, छः, सात वर्षों के रहे होंगे, ठंड के इस वातावरण में भी नंगे पैर भाग-भाग कर एक दरवाज़े से दूसरे दरवाज़े उछल-कूद करते हुए, खुशी-खुशी अनाज व पैसे एकत्र कर रहे थे. थोड़ी-थोड़ी देर के उपरांत जैसे ही उनके मम्मी-पापा बोलते- 'दान करो, पुण्य कमाओ, कपड़े दान करो, अन्न दान करो,' तो बच्चे भी उनके पीछे-पीछे नकल करते हुए बोलने लगते.

ग्रहण अढ़ाई घंटे तक रहा. गलियों-कूचों एवं कॉलोनियों में अढ़ाई घंटे घूमने के बाद जब वे अपने घर पहुंचे तो उनके मुख पर थकान नाम की कोई भी चीज़ नज़र नहीं आ रही थी. तीनों बच्चे अपने मम्मी-पापा के इर्द-गिर्द बैठ गये थे और अपनी-अपनी जेबें खाली करने लगे थे. जब सबसे छोटे ने अपनी पैंट तथा कुर्ते की जेबों से चिल्लर निकाली तो सिक्कों की खनक से उसकी आंखें तेज़ चमक अथवा प्रकाश से भर गयीं. जेबें खाली करता-करता वह पापा से बोल उठा- 'पापा.... पापा.... ये चंद्रग्रहण रोज़-रोज़ क्यों नहीं लगता !'

आर.एन-७, महेश नगर, अंबाला छावनी- १३३००१ (हरियाणा)

लघुकथा

चाल

✍ नरेंद्र कौर छाबड़ा

शिल्पकार ने हाल ही में दो मूर्तियां बनाई थीं. पहली, देश की आज़ादी के लिए शहीद हुए देशभक्त की, दूसरी दिवंगत नेता की. शिल्पकार की अनुपस्थिति में देशभक्त की मूर्ति ने नेता की मूर्ति से कहा, 'बड़ी खुश नज़र आ रही हो क्या बात है?' नेता की मूर्ति बोली- 'खुशी की बात तो है ही. दो चार दिनों के बाद भव्य समारोह में मुझे मुख्यमंत्री के हाथों शहर के व्यस्त इलाके में स्थापित कर दिया जायेगा. मेरे नाम पर ही उस चौक का नामकरण होगा. मुझे लोग सदा याद रखेंगे. सदियों तक मेरा नाम इस दुनिया में रहेगा. लेकिन तुम क्यों ख़ुश नहीं हो तुम्हें भी तो किसी महत्वपूर्ण स्थान पर स्थापित किया जायेगा, मान सम्मान मिलेगा......'

देशभक्त की मूर्ति उदासी भरे स्वर में बोली...'मुझे दुख इस बात का है कि हमारी मूर्तियां स्थापित करके इनका भी राजनीतिकरण होने लगा है. कभी किन्हीं उपद्रवी, शरारती तत्वों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए किसी मूर्ति की अवमानना कर दी जाती है फिर तोड़फोड़, आगजनी, मारपीट उपद्रव कराये जाते हैं, जहां करोड़ों की संपत्ति की हानि होती है वहीं कुछ लोगों की जान भी जाती है. कर्फ़्यू, बंद के कारण कामकाज ठप्प पड़ जाते हैं, ग़रीबों को खाने के लाले पड़ जाते हैं देश का आर्थिक नुकसान होता है. आजादी पाने के लिए हम सब मिलकर लड़ाई में शामिल हुए. जातिधर्म का कोई भेदभाव नहीं था लेकिन अब सांप्रदायिकता को बढ़ावा देकर दंगे भड़काये जाते हैं. मेरी राय में तो मूर्ति स्थापना की प्रथा समाप्त कर देनी चाहिए. आदर्श विभूतियों की मूर्तियां बनाने की बजाय उनके आदर्शों, उनके कर्मों का प्रचार हो तो हमें ख़ुशी होगी....'

नेता की मूर्ति कुटिलता से मुस्कराकर बोली...'तुममें और हममें यही फर्क है. तुम देश के लिए सब कुछ दांव पर लगा सकते हो और हम लोग सत्ता के लिए कुछ भी कर सकते हैं. यह हमारी एक चाल है. जहां कहीं सत्ता का सिंहासन डोलता नजर आये फौरन किसी मूर्ति की अवमानना कर देते हैं. लोगों को भड़काकर दंगे करवा कर पूरी परिस्थिति अपने पक्ष में कर लेते हैं. भीड़ की अपनी कोई सोच नहीं होती, जैसा हम चाहते हैं करवा लेते हैं. इसलिए यह मूर्ति स्थापना की प्रथा तो सदा बनी रहेगी. वैसे भी राजनीति में सब कुछ जायज होता है.'

देशभक्त की मूर्ति अब और उदास हो गयी थी.

सिंधी कॉलोनी, जालना रोड, औरंगाबाद-४३१००५

प्राप्ति स्वीकार

अपने-अपने सुख (कहानी संग्रह) : **श्रीहर्ष**, सामायिक प्रकाशन, हर्ष भवन, वेणीसर बारी के बाहर, बीकानेर- ३३४००५, मू. १५० रु.
नि:शब्द (क. सं.) : **डॉ. डी.के.गर्ग**, अमन प्रकाशन, १२०, हंस भवन, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. ३०० रु.
मरते सपने (क.सं.) : **सदाशिव कौतुक**, साहित्य संगम, श्रमफल, १५२०, सुदामा नगर, इंदौर-४५२००९. मू.१००रु.
ज़मीर अपना-अपना (क.सं.) : **इंदिरा शबनम**, ९/ब, मयूरबन अपार्टमेंट, ११०० शिवाजीगर, मॉडेल कॉलोनी, पुणे- ४११०१६. मू. ७५ रु.
आज के देवता (ल. संग्रह) : **सैली बलजीत**, अयन प्रकाशन, १/२०, महरौली, नयी दिल्ली-११००३०. मू. १४० रु.
ख़ुदा की देन (ल. संग्रह) : **तारिक असलम तस्नीम**, लेखनी प्रकाशन, ६/२, हारुन नगर, फुलवारी शरीफ, पटना- ८०१५०५. मू. ८० रु.
चुभन (ल.संग्रह) : **भानु सिंघल**, सुकीर्ति प्रकाशन, करनाल रोड, कैथल- १३६०२७. मू. ३० रु.
हंसोगे तो फंसोगे (व्यंग्य) : **रामसहाय वर्मा**, मकरंद प्रकाशन, बी-१४, सेक्टर-१५,नोयडा- २०१३०१. मू. ५० रु.
अनुकथन (गद्य/पद्य) : **श्याम सुंदर निगम**, १४१५, पूर्णिमा रतनलाल नगर, कानपुर-२०८०२२. मू. ३२ रु.
मानव दर्पण (अध्यात्म) : **स्व. रघुवर नारायण सिंह**, मीनाक्षी प्रकाशन, शकरपुर, दिल्ली-११००९२. मू. २२० रु.
पुरुषोत्तम (खंड काव्य) : **परमानंद अधीर**, श्री अंगिरा शोध संस्थान, पटियाला चौक, जींद (हरि.)-१२६१०२. मू. १६० रु.
क्रांतिवीर भगत सिंह (का. सं.) : **आचार्य ओमप्रकाश मिश्र कंचन**, साहित्यकार संसद तथा संस्कार भारती, फ़र्रुखाबाद २०९६२५.
मेरी प्रतिनिधि कविताएं (का. सं.) : **इंदिरा शबनम**, ९/ब, मयूरबन अपार्टमेंट, ११०० शिवाजीनगर, मॉडेल कॉलोनी, पुणे-४११०१६. मू. ७५ रु.

लघुकथा

बेबसी

✍ राजेंद्र मोहन त्रिवेदी 'बंधु'

नदी ने अपने यौवन में ऐसी अंगडाई ली कि चारों तरफ सैलाब आ गया और सैकड़ों गांव तबाह हो गये.

बाढ़ और भुखमरी से पीड़ित लोग, बाढ़-राहत सरकारी दुकान के सामने लंबी-लंबी कतारें बनाये आशा की नज़रों से कमी लंबी लाइन, तो कभी मिल रहे चावल की मात्रा को देखकर गहरी और ठंडी सांसें ले रहे थे. नंबर आने पर एक बूढ़े व्यक्ति ने अपना गमछा ज़मीन पर फैला दिया. उसके कपड़े पर लगभग दो किलो चावल डाल दिये गये.

बूढ़े ने गिड़गिड़ाते हुए कहा -'बाबू! बड़ा परिवार है इतने से क्या होगा? थोड़ा और.....'

'लाइन से दूर हटो. जो मिल रहा है, वही क्या कम है?'

'थोड़ा और मिल जाता तो मेहरबानी होती.'

युवक दुकानदार ने बूढ़े व्यक्ति को धक्का देकर लाइन से दूर कर दिया. उसके सारे चावल ज़मीन पर फैल गये. इस अनहोनी से उसकी आंखों से बेबसी बहने लगी. निरीह आंखों से उसने पुनः दुकानदार को देखा. फिर गिरे चावल को बटोरने में जुट गया.

पास खड़े रमेश ने उस वृद्ध को मिट्टी सहित चावलों को उठाते देख कर पूछा-'दादा! मिट्टी सहित चावल क्यों उठा रहे हो?'

'क्या करूं भइया. भूख शांत करने के लिए इस वक़्त मुझे चावल और मिट्टी में कोई अंतर दिखाई नहीं दे रहा.' उसकी बेबसी का बहाव अब और तेज़ हो गया था.

✉ ३३१ निराला नगर, निकट हनुमान मंदिर, रायबरेली- २२९००१.

cpe

CHEMICAL PROCESS EQUIPMENTS PVT.LTD.

B.S.D.Marg, Govandi, Mumbai-400088
Tel. No. : 022-67978141-44, Fax.: 022-25562248
e-mail : ashwin_rajpurohit@cpel.com **website:** www.cpel.com

CPP

CHEMICAL PROCESS PIPING PVT.LTD.

B.S.D.Marg, Govandi, Mumbai-400088
Tel. No. : 022-67978141-44, Fax.: 022-25562248
e-mail: vijayrajpurohit@cppiping.com **website :** www.cppiping.com

Pioneers in the design and fabrication of chemical process equipment and piping from FRP and other composites for over 45 YEARS!

Winners of several PLEXCOUNCIL AWARDS for excellence in export of FRP Equipment, Piping etc. worldwide.

संस्कृति संरक्षण संस्था

*संस्था के उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में समय-समय पर अनेक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं. १७ अगस्त २००८ को सनातन धर्म विद्यालय (चेंबूर कैंप) में एक **'काव्य-सृजन'** प्रतियोगिता आयोजित की गयी जिसमें विभिन्न विद्यालयों के नवीं-ग्यारहवीं और जूनियर कॉलेज के विद्यार्थियों ने भाग लिया. काव्य-सृजन के लिए प्रतियोगिता प्रारंभ होने से मात्र आधा घंटा पूर्व ही प्रतियोगियों को आठ विषय बताये गये जिनमें से उन्हें कोई एक विषय चुनना था. यहां पर उन पांच कविताओं को प्रस्तुत किया जा रहा है जिन्हें प्रोत्साहन पुरस्कार प्राप्त हुए.*

मां की भाषा अर्थात मेरी भाषा : हिंदी

✍ रत्निका तिवारी (बी.ए.)

मां तू है कहां?
तुझे ढूंढू मैं यहां वहां,
रहती तू तो है निश्छल
लहरा के अपनी ममता का आंचल.
बिन बताये तू सब जान जाती
बोल मां तू कौन सी माया जानती?
मां तू तो है ऐसी, रह जाती है ख़ुद भूखी
बच्चे को खिलाकर खाना, हो जाती है तुझे संतुष्टि.
तेरे आंचल में है सिमटा जीवन मेरा
बिन तेरे छाया यह कैसा घोर अंधेरा?
मां एक बार आकर कर दे फिर उजाला
तेरे आंचल में छिपा है जीवन का प्रकाश सारा.
एक दिन वही शिशु हो जाता है बड़ा
फिर भी मां के सामने वो छोटा ही खड़ा,
मां करती उससे सदैव प्रेम
शायद यही है प्रकृति की देन.
बच्चे के कष्ट में मां का दुख है भरा
उसके कष्ट को दूर कर ख़ुद में मां ने कष्ट है भरा,
मां तू तो है सर्वोपरि, सबसे बड़ी,
शायद इसलिए ईश्वर के पहले तू खड़ी.

१, अरावली, अणुशक्तिनगर, मुंबई- ४०००९४

आम आदमी

✍ सौरभ कुमार यादव (बी.ए.-द्वितीय वर्ष)

मैं एक आम आदमी हूं,
मैं ही नहीं कुछ लोगों को छोड़कर
भारत का हर आदमी आम आदमी ही है,
हो रहे हों उस पर कितने ही अत्याचार
भले वो रहे कितना ही परेशान,
रहे वह कितना ही दुखी
अपने आदर्शवादी नेताओं की राजनीति से,
पर वह मुंह नहीं खोलता
क्योंकि वह एक आम आदमी होता है,
आम आदमी कभी-कभी क्या
हमेशा महंगाई से रहता है परेशान,
भ्रष्टाचार कर दे भले ही
उसका जीना हराम,
पर वह कुछ नहीं बोलता
क्योंकि वह एक आम आदमी होता है,
वह हमेशा अपने घर में शेर हुआ करता
पर बाहर बोलने से डरता है,
इसलिए नहीं कि
वह अपनी जान के ख़तरे से डरता है
या कायर होता है,
पर इसलिए क्योंकि
उसके घर में उसकी बूढ़ी मां,
उसकी पत्नी या जवान बेटी या बेटा रहता है.
पर,
यही डर उसे
उसके समाज, उसकी संस्कृति, उसके देश
सबको ले डूबेगा
इसीलिए अब,
हर आम आदमी को बोलना होगा.

**राजपत यादव चाल, हनुमान नगर,
कांदिवली (पू.), मुंबई- ४००१०१**

आतंकवाद

✍ विभव मिश्र

अगर करें हम इसकी संधि-विच्छेद
तो पायेंगे कि यह है दो शब्दों का मिलाप,
एक-आतंक, तो दूसरा वाद.
आंतकवाद नहीं है कोई नयी बीमारी
आज से सौ साल पहले भी थी यह महामारी,
युग बदल गया पर अभी भी फंसी है जनता बेचारी
पहले दूसरे देश के आंतकी होते थे
कुछ अंग्रेज, तो कुछ मुगल होते थे,
आम आदमी तब भी रोता था और आज भी रोता है
पहले जब लोग मरते थे तो वह हिंदुस्तानी कहलाते थे,
आज मरनेवाले हिंदू व मुस्लिम कहलाते हैं
और आज के नेता सिर्फ़ दर्द को सहलाते है
और मीडिया वाले ब्लास्ट को ब्रेकिंग न्यूज़ कह कर
लाइव टेलिकास्ट दिखाते हैं.

(आगे की पंक्तियां सिर्फ़ यहां बैठे युवक व युवतियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी हैं.)

अगर एक अरब की जनता में
इधर-उधर के धमाके में सौ लोग मर जाते हैं
वो मेरे बाप क्या जाता है?
यही दृष्टिकोण हमें बदलना होगा
सबको न सही अपने आप को बदलना होगा.
गर कोई तुम्हें मजहब के नाम पर मरना मारना सिखलाता है,
तुम्हें फुसला कर ग़लत राह दिखाता है,
तो उसके खिलाफ़ उठायो अपनी आवाज़
समझाओ उसे एकता का राज
वैसे विषय था आतंकवाद तो आज के नये नये आंतकी
हथियारों के बारे में बताता हूं.
इसी बहाने मैं आपको थोड़ा सा हंसता हूं
आज के टीवी प्रोग्राम किस तरह आंतकी बन गये हैं?
एक तरफ सोनी परिवार तो दूसरी और स्टार के कलाकार
एक ओर सास की मार तो दूसरी और बहु की,
लाफ्टर भी बन गया है एक चैलेंज
न्यूज़ चैनलों के आंतक के बारे में क्या बताऊं,
एक ओर बाबा रामदेव तो दूसरी ओर बाबा कामदेव
और एक कहता है चैन से सोना है तो जाग जाओ
और बाक़ी ग़रीबों को तो महंगाई मार गयी.
आंतक के रूप अलग-अलग
हमें ख़ुद सतर्क रहकर सतर्कता फैलानी है

✉ **१, अरावली, अणुशक्तिनगर, मुंबई- ४०००९४**

मेरी मां, भारत मां

✍ भावेश शिंगरे (दसवीं)

मां! मेरी मां, मेरी भारत मां!
जिसकी गोद में खेला
और जहां बड़ा हुआ
उसके लिए मरने के लिए खड़ा हुआ
जो अपने बच्चों को पालती है
उसकी रक्षा हम करते हैं.
मां! मेरी मां, मेरी मां भारत मां,
तन-मन-धन अर्पित करता हूं
तेरे जैसी, दुनियां में नहीं मां
यह भारत मां.
खुद भूखा सोती है
पर अपने बच्चों को खाना देती है.
तू क़ैद थी डेढ़ सौ साल,
पर तू तड़पती थी बच्चों के लिए.
एक दिन तेरा सिर ऊंचा करेंगे
मेरी मां, भारत मां!
तेरी स्वतंत्रता पर आये कोई आंच
हम करेंगे अपनी जान न्यौछावर.
शत-शत कोटि प्रणाम करें,
ऐसी है हमारी भारत मां.

✉ **बेस्ट चाल-२, रुम नं.३, कोकण नगर, नवजीवन सोसायटी के सामने, चेंबूर, मुंबई- ४०००७४**

ऐसी भारत माता है

✍ भावेश शिंगरे (दसवीं)

एशियाई खंड के दक्षिण भाग में,
स्थित यह प्यारा देश है;
हम सबको प्यारा, सबसे न्यारा,
भारत हमारा देश है.
प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य,
सारे जग में प्रसिद्ध है;

इन्हें जिसे बनाया इस देश के,
वे साधु-संत सिद्ध हैं.
गौरवपूर्ण इस देश के,
पिता गांधी महात्मा हैं;
अनेकता में एकता,
यह इसकी आत्मा है.
छत्रपती शिवाजी के चरणस्पर्श,
से पावन है;
प्रकृति और निसर्ग देखकर,
मेरा तो मनभावन है.
विविध भाषाएं, विविध जातियां,
विविध यहां धर्म हैं;
शालीनता से पूर्ण विराजित,
इसी देश का मर्म है.

उत्तर में हिमालय खड़ा,
भारत में शोभायमान है;
मुझे भारतवासी होने का,
गर्व और अभिमान है.
राम-कृष्ण और बुद्ध,
इस देश के महान सपूत हुए;
इन्हीं के द्वारा फैला ज्ञान,
यह भारत के ही दूत हैं.
केसर, सफ़ेद, हरे रंग का,
झंडा तिरंगा कहलाता है;
मां के नाम से पुकारते,
ऐसी भारत माता है!

९/३१६, नवरंग, सुभाषनगर, चेंबूर,
मुंबई- ४०००७१

संस्कृति संरक्षण संस्था, मुंबई

(Regn. No. E 23216 dt 7-2-2006)

ए-१०, बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड, देवनार, मुंबई- ४०००८८

भारत की सामासिक संस्कृति, साहित्य, कला, भाषा तथा स्वस्थ परंपराओं को संरक्षित एवं संवर्धित करने के उद्देश्य से ***संस्कृति संरक्षण संस्था*** की स्थापना की गयी है. संस्था की एक गतिविधि है जनसामान्य को सीधे प्रभावित करनेवाले विषयों पर समय-समय पर संगोष्ठियों, परिचर्चाओं का आयोजन करना. कहना न होगा कि १३ अक्तूबर २००७ को संस्था द्वारा आयोजित ***''कंप्यूटर के विविध उपयोग और हिंदी''*** विषय पर आयोजित संगोष्ठी को अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई.

वर्तमान में सारा देश ऊर्जा की समस्या से जूझ रहा है. बड़े शहरों को छोड़ दें तो आज देश का काफी बड़ा भू-भाग घंटों अंधेरे में रहने को अभिशप्त है. ऊर्जा की कमी से समाज का हर वर्ग प्रभावित होता है साथ ही विकास की गति भी अवरुद्ध होती है. भविष्य में ऊर्जा की आवश्यकता निरंतर और अधिक बढ़ेगी. अभी से हमें ठोस और कारगर क़दम उठाने होंगे तभी हम सही तरह से समस्या का निवारण कर सकेंगे. संस्कृति संरक्षण का कार्य भी समाज की समृद्धि से जुड़ा हुआ है. इसी संदर्भ में १५ फरवरी २००९ को चेंबूर जिमखाना में सुबह ९.३० बजे ***''भारतीय ऊर्जा समस्या, सुझाव व समाधान''*** विषय पर संस्था ने एक संगोष्ठी आयोजित करने का निर्णय लिया है.

वार्ताओं के प्रमुख विषय

''तापीय विद्युत उत्पादन : वर्तमान स्थिति व भविष्य''

''जलीय संसाधनों का समुचित उपयोग और विद्युत उत्पादन''

''न्यूक्लीय ऊर्जा : कितनी आवश्यक, कितनी सुरक्षित?''

''गैर पारंपरिक ऊर्जा स्त्रोतों से ऊर्जा की उपलब्धि''

''सौर्य ऊर्जा : अपरिमित संभावनाएं''

''विद्युत ऊर्जा: अपव्यय कैसे रोकें?''

संगोष्ठी में भाग लेने के लिए कृपया संपर्क करें:

डॉ. मिथिलेश कु. सक्सेना- २५५६९०१७, २५२९९१०९, ९८२०४१८३११

डॉ. माधव सक्सेना- २५५१५५४१, ९८१९१६२६४८

"कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार-२००८"

अभिमत-पत्र

वर्ष २००८ के सभी अंकों में प्रकाशित कहानियों के शीर्षक, रचनाकारों के नाम के साथ नीचे दिये गये हैं. पाठक अपनी पसंद का क्रम (१,२,३,...७,८) सामने के खाने में लिखकर हमें भेजें. आप चाहें तो इस **अभिमत-पत्र** का प्रयोग करें अथवा मात्र आठ कहानियों का क्रम अलग से **एक पोस्टकार्ड** पर लिख कर भेज सकते हैं. प्राप्त अभिमतों के आधार पर पिछले वर्षों की तरह ही सर्वश्रेष्ठ कहानी (१००० रु. - एक), श्रेष्ठ कहानी (७५० रु. - दो) तथा उत्तम कहानी (५०० रु. के पांच) पुरस्कार घोषित किये जायेंगे. जिन पाठकों की भेजी क्रमवार सूची अंतिम सूची से मेल खायेगी उन्हें **कथाबिंब** की **त्रैवार्षिक सदस्यता (१२५ रु.)** प्रदान की जायेगी. **कथाबिंब** ही देश की एकमात्र पत्रिका है जिसने इस तरह का लोकतांत्रिक आयोजन प्रारंभ किया हुआ है. इसकी सफलता इसी में है कि ज़्यादा से ज़्यादा पाठक अपना निष्पक्ष मत व्यक्त करें. पाठकों का सहयोग ही हमारा मुख्य संबल है.

कहानी शीर्षक / रचनाकार	आपका क्रम
१. **हे राम !** – सुशांत सुप्रिय	
२. **सज़ायाफ्ता** – मंगला रामचंद्रन	
३. **बस. चाय का दौर था और चर्चाएं थीं** – राजेंद्र पांडे	
४. **मध्यांतर** – डॉ. वी. रामशेष	
५. **रोशनीवाला** – राजेंद्र वर्मा	
६. **डॉक्टर की फीस** – माला वर्मा	
७. **धुआं-धुआं ज़िंदगी** – डॉ. सूर्या राव	
८. **आश्रयदाता** – कैलाशचंद्र जायसवाल	
९. **क्योंकि मैं स्त्री हूं** – डॉ. रंजना जायसवाल	
१०. **एक कुर्बानी यह भी !** – सेराज खान 'बातिश'	
११. **कोढ़ फूटेगा**– नूर मुहम्मद 'नूर'	
१२. **राग-जीवन** – देवेंद्र सिंह	
१३. **हेलीकॉप्टर** – राजीव सिंह	
१४. **कस्तूरी** – राजेंद्र रावत	
१५. **कीड़े** – वल्लूर शिवप्रसाद	
१६. **माई बाड़ा** – सुधीर अग्निहोत्री	
१७. **मृग-मरीचिका** – संतोष श्रीवास्तव	
१८. **क़स्बे में क़हर के दिन** – डॉ. विद्याभूषण	
१९. **बंटवारा** – कृष्ण सुकुमार	